TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180190

UNIVERSAL
LIBRARY

H84
T167K
H3045

मिश्रं, कन्हैयालाल 'प्रभाकर'
अणबोले कण बरसाते.

)UP--23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

P. G.

Call No. H84 M67K Accession No. H3045

Author मिश्र, कन्हैयालाल 'प्रभाकर'.

Title क्षण बोलेका आणि सुसकारे - 1963

This book should be returned on or before the date
ast marked below.

क्षण बोले
कण मुसकाये

[तेईस अन्तर्दर्शी और मर्मस्पर्शी रिपोर्ताज़]

*

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

VIDYA PRAKASHAN
V.P.
HYDERABAD.

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक — १८३

सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

KSHANA BOLEY
KAN MUSKAYE
{ Reportage }
KANHAIYA LAL MISHRA
'PRABHAKAR'
Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1963
Price Rs. 8/-

o

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय
९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६३
मूल्य चार रुपये

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५

अनुक्रम

वे सुनते ही नहीं !	(१९६०)	....	१
अब हम स्वतन्त्र हैं	(१९६०)	....	८
लोहेके स्टैच्यू बोल उठे !	(१९५३)	....	१९
राबर्ट नर्सिङ् होममें !	(१९५१)	....	२७
एक दिनकी बात	(१९३४)	....	३४
मसजिदकी मीनारें बोलीं !	(१९४८)	....	५८
युक्तप्रान्तकी असेम्बलीमें	(१९४७)	....	६४
मरनेके बाद मुलाक़ात	(१९४८)	....	७७
लखनऊ काँग्रेसके उन दिनोंमें	(१९३६)	....	८६
पहाड़ी रिवशा	(१९४८)	....	१०५
काँग्रेस महासमितिके अधिवेशनमें	(१९५२)	....	१११
मेरे मकानके आस-पास	(१९४५)	....	१२३
दो दिन : दो गोष्ठियाँ	(१९६२)	....	१२९
अपने भंगी भाइयोंके साथ	(१९५१)	....	१४४
महान् सांस्कृतिक महोत्सवमें	(१९४५)	....	१४९
कुम्भ महान् : १९५०	(१९५०)	....	१६३
मध्य भारतकी श्रद्धाके फूल	(१९५१)	....	१८३
आपबीती या जगबीती ?	(१९६१)	....	१८८
लाल क़िलेकी ऊँची दीवारसे	(१९५१)	....	१९५
ऊपरकी बर्थपर	(१९४५)	....	२०४
लाल मन्दिरकी छायामें	(१९५०)	....	२०८
दिल्ली-यात्राकी स्मृतियाँ	(१९३४)	....	२१८
एक तसवीरके दो पहलू	(१९३२)	....	२२५

ज्ञान और आनन्दके इस संगममें !

१९२५ में जब मैं अपनी तुकबन्दियोंके तंग घेरेसे निकलकर गद्यके क्षेत्रमें आया, तो मैं श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'की संस्कृत-सरस शैलीसे पूरी तरह प्रभावित था। उन्हीं दिनों वसन्तमें खेतोंपर खूब घूमनेके बाद मैंने एक लेख लिखा था। पूरी ज़िम्मेदारीके साथ आज मैं कह सकता हूँ कि गद्य-काव्य, स्केच और रिपोर्ताज़के बीज थे उसमें।

कुछ लोग कहते हैं कि पत्रकार-कलामें रिपोर्ताज़का आविष्कार रूसमें हुआ और वहींसे यह भारतमें आया। निश्चय ही यह उस देशमें अपने स्वतन्त्र रूपमें पनपा होगा; हिन्दीको उसका श्रेय लेनेकी आवश्यकता नहीं, पर हिन्दीमें यह स्वतन्त्र रूपमें पनपा है और उसपर किसीका किसी तरह-का भी ऋण नहीं। हाँ, बादमें इस विधाके लिए रिपोर्ताज़ नाम रूसीके माध्यमसे हिन्दीने लिया, यह एक प्रत्यक्ष सचाई है।

स्पष्ट है कि मेरे मनमें न रिपोर्ताज़ शब्द था, न उसके फलितार्थ। फिर उसे लिखनेकी भावना मुझमें कैसे उगी और उसका स्वरूप मेरे मनमें कैसे बना ? इस प्रश्नका उत्तर एक लम्बी कहानी है। १९२५ में कानपुरमें काँग्रेसका अधिवेशन श्रीमती सरोजिनी नायडूके सभापतित्वमें हुआ। उसमें जानेकी तीव्र इच्छा थी, पर धनाभावके कारण मैं जा न सका, कहूँ तड़प कर रह गया। फल यह हुआ कि दैनिक और साप्ताहिक पत्रोंमें कानपुर-अधि-वेशनके सम्बन्धमें जो कुछ छपा, वह मैंने अक्षर-अक्षर पढ़ा, पर सब कुछ पढ़नेके बाद भी मैं प्यासा रह गया। यह प्यास आनन्दकी थी। अधिवेशनमें जो कुछ हुआ, इस सारी 'रिपोर्टिङ्' में उसका ज्ञान और विवरण तो था, पर आनन्द न था।

मुझे इससे बहुत बेचैनी हुई और मैंने बार-बार सोचा कि क्या यह रिपोर्टिङ् इस तरह नहीं हो सकती कि जो लोग अधिवेशनमें नहीं गये उन्हें भी वहाँ जानेका कुछ-न-कुछ आनन्द आये। वे सौ प्रतिशत पाठक तो रहें ही; पर दस-बीस प्रतिशत दर्शक भी हो सकें।

१९२६ में गुरुकुल काँगड़ीकी रजत-जयन्ती मनायी गयी और उसमें महात्मा गान्धी, मालवीयजी और टी० एल० वास्वानीके आनेकी घोषणा हुई। मैं एक कृपालु बन्धुसे बारह रुपये उधार लेकर उस उत्सवमें गया और बहुत ही तल्लीनतासे मैंने उस उत्सवको देखा। मेरी आँखोंके लिए इतना बड़ा वह पहला ही उत्सव था। उत्साह अथाह, तो व्यवस्था अनुपम-पुलिसका कहीं नाम-निशान नहीं; हर क्षण नया दृश्य, नया अनुभव। मैं आनन्द-विभोर हो उठा।

घर लौटकर मैंने इस महान् उत्सवकी रिपोर्टिङ् भी कई पत्रोंमें पढ़ी और फिर पहलेकी तरह निराश हुआ—सभीमें जड़ विवरण, जिसमें रसकी एक बूँद नहीं। यह उत्सव मैं स्वयं देख चुका था, इसलिए मनमे आया कि अमुक-अमुक दृश्य इस विवरणमें जोड़ दिये जाते, तो पाठकको कितना आनन्द आता! इस प्रकार पहले कल्पनामें और फिर कागजपर मैंने इस महोत्सवका रिपोर्ताज़ लिखा। वास्तविक रूपमे यही मेरा पहला रिपोर्ताज़ था। सन्-महीना-तारीखके आँकड़ोंमें सोचनेवाले इतिहास-लेखकोंका काम है कि वे देखें – यही हिन्दीका पहला रिपोर्ताज़ तो नहीं था!

इसमें अनेक ऐसे दृश्य थे, ऐसे स्पर्श थे कि पाठक घर बैठे भी महोत्सवमें घूमनेका आनन्द उठा सके। गान्धीजी, मालवीयजी, वास्वानीजी, डॉक्टर मुंजे, आचार्य रामदेव और साधारण दर्शकोंकी ऐसी छोटी-छोटी झाँकियाँ और राह चलते देखी नन्हीं-मुन्नी घटनाओंके ऐसे जड़ाव थे कि लिखकर पढ़ा, तो दुबारा उत्सव देखनेका आनन्द आ गया – साथियोंमें भी जिसे सुनाया, वही खिल उठा। रिपोर्ताज़के स्वरूप और शिल्पको भरपूर जाननेके बाद आज युग-युगोंके बाद पूरी ईमानदारीके साथ मेरी

सम्मति है कि वह हिन्दीका सर्वांगपूर्ण रिपोर्ताज़ था।

उन्हीं दिनों और भी कई रिपोर्ताज़ कई ढंगोंके लिखे। 'ब्राह्मण-सर्वस्व'के जनवरी १९२७ के अंकमें प्रकाशित मेरा एक रिपोर्ताज़ 'वेदोंकी खोज' भाई अमरबहादुर सिंह 'अमरेश' की सावधानीसे सुरक्षित रह गया है। यह किसी घटनापर नहीं, इस विशिष्ट भावनापर आश्रित है कि भारतमें वेदोंका नाम तो सब लेते हैं, पर उनके अध्ययनकी कहीं भी उचित व्यवस्था नहीं है। बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंगसे संस्मरणात्मक रूपमें यह बात कही गयी है। एक युवक वेदोंका अध्ययन करनेकी तीव्र इच्छासे चलता है और देशकी छोटी पाठशालासे हिन्दू विश्वविद्यालय तक पहुँचता है। वेदका नाम उसे जगह-जगह मिलता है, पर वेदोंके अध्ययनकी सुविधा कहीं नहीं। वह थककर एक बाग़में जा बैठता है और देखता है कि एक अँगरेज़ वहाँ बैठा कुछ लिख रहा है।

पूछनेपर पता चलता है कि वह वेदोंका विद्वान् है और आजकल महीधरकी भाष्यप्रणालीके खण्डनमें एक पुस्तक लिख रहा है। यहीं रिपोर्ताज़का अन्त इन शब्दोंमें होता है: "मैंने सोचा, हाय, भारतीयोंको तो इतना समय नहीं है कि वे अपने सर्वस्व वेदोंपर ध्यान दें और यह विदेशी वेदोंपर विवेचना कर रहा है और श्रुति-सर्वस्व महीधरके भाष्यका खण्डन भारतमें ही बैठा हुआ कर रहा है। शोक! इस समय मुझे समस्त पृथ्वी और आकाश शून्य प्रतीत हुआ और मैं मूर्च्छित होकर हरी घासपर लेट गया।"

इस रिपोर्ताज़को लिखकर ऐसा मालूम होता है कि मेरे विकसित हो रहे मनमें यह प्रश्न उठा कि यह है क्या? साहित्यिक भाषामें यों कि अपनी इस कृतिके सम्बन्धमें मेरी जिज्ञासा विधात्मक थी कि यह लेख नहीं है, कहानी भी नहीं है; गद्यकाव्य भी नहीं है, तो फिर है क्या? रिपोर्ताज़ शब्द तबतक उपजा न था, तो मेरी उस समयकी बुद्धिने इसे 'निबन्धात्मक गद्यकाव्य' कहा और यह कथन मुझे इतना 'मौलिक' लगा कि

मैंने इसे 'वेदोंकी खोज' इस शीर्षकके नीचे उपशीर्षककी तरह लिखना आवश्यक समझा।

१९२८ में अपनी जन्मभूमिके चैती मेलेपर मैंने एक रिपोर्ताज़ लिखा और वह 'ब्राह्मण-सर्वस्व' में छपा भी, पर इतना कट-छँटकर कि खण्डित हो गया – एक अच्छा समाचार ही रह गया। तब उठी गान्धीकी आँधी; जलसे-जुलूस और आकाश हिलाते नारे – १९३० का आन्दोलन कि लिखना-पढ़ना सब तूफ़ान, रात-दिन एक ही धुन – चलो जेल!

यह आयी ४ सितम्बर १९३० और पहुँच गये जेल – एकदम नयी दुनिया। इस दुनियाकी एक खास चीज़ 'सी०ओ०'। यों किसी बुरे क़सूरमें जेल काटते क़ैदी, पर क़ैदके अन्तमें सी० ओ० – कनविक्ट ओवरसियर – बिना वेतनके जेल अधिकारी, हमारी बैठकके इंचार्ज। पीला पाजामा, पीला कोट, लाल टोपी और लाल टोपीपर कलगीकी तरह सामने ही लगा पीतलका 'C. O.' – जेलशासनके प्रतिनिधि, पर क़ैदीके ईश्वर!

बड़ा अद्भुत था सी० ओ० चरित्र। उसपर एक रिपोर्ताज़ लिखा। बड़ा ही व्यंग्यात्मक और चुलबुला। उसे सी० ओ० के ही सहयोगसे घर भेज दिया और बादमें वह किसी पत्रमें छपा भी, पर इसके बाद जेलके जीवनपर जो पाँच-छह रिपोर्ताज़ लिखे, वे एक दिन जब मैं भूख-हड़तालपर था, तलाशीमें सख्त जेलर श्री गुरुप्रसादके हाथ पड़ गये और फिर कभी उस पंजेसे बाहर नहीं निकले। जीवनमे मेरे चार पुत्रोंकी मृत्यु हुई है। ये चारों ही सुन्दर-होनहार थे, पर इनसे ज़्यादा मुझे अपने रिपोर्ताज़ बार-बार और कसकके साथ याद आये है।

तब १९३२ का तूफ़ान – मेरी दूसरी जेलयात्रा। वायसराय लार्ड विलिंगडनका दमनचक्र जोरोंपर। १९३० में जो लोग जेलोंके ए क्लासमें रखे गये थे, उनमें-से अधिकांश बी क्लासमें, पर मैं एक अपवाद कि १९३० में सी क्लासमें था और १९३२ में रहा बी क्लासमें। इसकी भी एक मज़ेदार कहानी। १९३० मे मुझे बी क्लास मिला, तो मैंने कहा, "मेरे

भाषण सुनकर जो देहाती भाई स्वयंसेवक बन जेल आये हैं, वे सी क्लासमें चने चाबें और मैं बी क्लासमें दूधका दलिया खाऊँ, यह गान्धी-भावनाके विरुद्ध है, मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता।" और अपना क्लास छोड़ दिया।

१९३२ में जेल गया, तो बीमार था और पकड़ा गया उस दफ़ामें, जिसमें पण्डित जवाहरलाल नेहरू और दूसरे दस-पाँच ही उत्तर प्रदेशमें पकड़े गये थे : इमरजेन्सी पावर ऑर्डीनेन्स। सज़ा हुई दो सालकी। मैजिस्ट्रेट श्री बी० बी० सिंहने बी क्लास लिखा, पर अँगरेज़ जिलाधीश श्री कुकसे कई बार मेरी झपट हो चुकी थी, इसलिए उसने उसी दिन उसे सी कर दिया। मेरे कुटुम्बके 'बड़े आदमी' श्री पण्डित आशारामजीने कुकसे कहा, "कन्हैयालाल मेरा भतीजा है, कहना नहीं मानता, काँग्रेसमें काम करता है। आप उसे जेल भेजते हैं, यह ठीक ही है, पर आपने उसे सी क्लासमें क्यों रख दिया?"

झल्लाकर कुक साहब बोले, "हमने उस बदमाशको इसलिए सी क्लासमें रखा कि सरकारने कोई डी क्लास नहीं बनाया!" यह समाचार मेरी पत्नी प्रभाने मुझे दिया, तो सुनकर बड़ा गुस्सा आया। अँगरेज़से हर मोर्चेपर युद्ध, यही उन दिनोंकी मनोवृत्ति थी। कुककी नाक काटना तै हुआ, उसकी योजना बनी। दूसरे ही दिन प्रभाजीने होम मेम्बरको एक रजिस्टर्ड पत्रमें लिखा, "मेरे पति लेखक हैं, पत्रकार हैं, रायल एशियाटिक सोसायटी लन्दनके मेम्बर हैं, एक ऊँचे कुटुम्बके सदस्य हैं, उनका रहन-सहन ऊँचा है। फिर भी उन्हें बीमारीकी हालतमें बदलेकी भावनासे सी क्लासमें रखा गया है। सचाई यह कि यह सब सच होते भी बेचारा कन्हैयालाल उन दिनों बीस रुपये महीनेपर संस्कृत विद्यालयमें अध्यापक था।

तहसीलमें पूछ-ताछके बाद बाईसवें दिन मुझे बी क्लासमें रखनेका आदेश आ गया और मैं सहारनपुर जेलकी बैरक नम्बर ७ से बँगला नम्बर

११ में बदल दिया गया। समयकी बात, दूसरे ही दिन श्री कुक जेलका निरीक्षण करने आये और मुझे बी क्लासमें देखा, तो जेलरसे पूछा, "इस पण्डितको हमने सी क्लासमें रखा था।" उनके जवाब देनेसे पहले ही मैंने ज़ोरसे कहा, "लेकिन आपके हिन्दुस्तानी आक़ाने बी क्लासमें कर दिया है।" उन दिनों नवाब छतारी साहब होम मेम्बर थे। बड़ा झेंपे कुक साहब और तुरन्त दूसरी बैरकमें चले गये।

बी क्लासका मेरे लिए सबसे बड़ा आनन्द ११ नम्बरके बँगलेसे मिला – हरा-भरा खेत था और बादमें फ़ैज़ाबाद जेलमें उत्तर प्रदेशके श्रेष्ठ राजनैतिक साधकोंसे सम्पर्क पाना। तो इसी हरे-भरे खेतपर बैठकर मैंने बहुत-से लेख लिखे। इन्हींमें था – एक तसवीरके दो पहलू। कहना चाहिए यहाँतक आते-आते मेरी रिपोर्ताज़ लिखनेकी कला अपनी पूर्णताके निकट आ चुकी थी।

जून १९३४, एक घटनाने जीवनको झकझोर दिया और यह झकझोर एक रिपोर्ताज़ बन बैठी। निवास एक शानदार कोठीमें, पर स्थिति यह कि घरमें खानेके नाम थोड़ी-सी खिचड़ी ही शामके भोजनके लिए। खिचड़ी खाना कोई बुरी बात नहीं, पर घरमें एक मेहमान, जो यह कह चुके कि जाते समय किरायेके लिए मुझे दो रुपयेकी ज़रूरत होगी। अब समस्या यह कि यदि दो रुपये न दे सकनेके कारण मेहमानको ठहरनेके लिए कहें, तो उसे खिलायें क्या, और जाने दें तो दो रुपये कहाँसे दें? दिन-भर मैं किसीसे पाँच रुपये उधार पानेके लिए दौड़-धूप करता रहा और असफलताके थपेड़े खाता रहा। इन थपेड़ोंके बीच चिन्तन बराबर चलता रहा। इस घटनाका अन्त कमालका कि मैंने ज्यों ही थककर प्रयत्न बन्द किये, एक चमत्कारके रूपमें मुझे पाँच रुपये मिल गये। इस रिपोर्ताज़में वे प्रयत्न, वह चिन्तन और वह चमत्कार साकार हो गया है।

इसे पढ़कर सफल कवि और सबल आलोचक डॉक्टर रामकुमार वर्माने कहा था, "विश्व-साहित्यमें इस ढंगकी मैंने एक ही रचना और

पढ़ी है और वह है विक्टर ह्यूगोकी फाँसी।" दूसरे कुछ बन्धुओंने भी इसकी असाधारण प्रशंसा की और इससे निश्चय ही मेरा आत्मविश्वास पुष्ट हुआ – मुझे नये प्रयोग करनेकी प्रेरणा मिली।

यह है फ़रवरी १९३५! केन्द्रीय असेम्बलीका चुनाव हो चुका था और उस दिन उसके प्रेजीडेण्टका चुनाव होना था। श्री तसद्दुक अहमद-खाँ शेरवानी काँग्रेसी उमीदवार थे। घनघोर संघर्ष था। दो वोटसे काँग्रेस हार गयी। मैं भी उन दिनों दिल्लीमें ही था। खूब घूमा, खूब देखा, खूब सोचा और बादमें यह सब एक रिपोर्ताज़मे उतर आया – दिल्ली यात्राके संस्मरण। स्पष्ट है कि रिपोर्ताज़ शब्द तब नहीं था और यह भी कि इस विधाकी भिन्नता मनमे थी, पर उसके लिए कोई नाम न था! फिर भी इसे लिखकर मैं अभिभूत हो उठा; क्योंकि यह भावुकताके सुकुमार स्पर्शोंसे यों अनुरंजित था कि अतीत, वर्तमान और भविष्य अपनी रंगीनियोंके साथ एक ही मंचपर थिरक उठे थे। मैं इसे इस दृष्टिसे भी बहुत महत्त्व देता हूँ कि मेरे मनमें रिपोर्ताज़का एक सम्पूर्ण चित्र इसी रिपोर्ताज़से बना।

और यह है अप्रैल १९३६; पण्डित जवाहरलाल नेहरूके सभापतित्वमें लखनऊमे काँग्रेसका अधिवेशन – भारतके नये युगका अरुणोदय। इसे मैंने खुली आँखों देखा, भरी आँखों देखा, आँखों भर-भर देखा और तब लिखा उसपर रिपोर्ताज़। यह इतना विस्तृत कि लगभग चौथाई अंश कट जानेपर भी दैनिक 'प्रताप'के तीन अंकोंमे पूर्ण हुआ – सूक्ष्म और सलोने स्पर्शोंसे समन्वित। [स्वयं पण्डित जवाहरलाल नेहरूने उसके सम्बन्धमे 'प्रताप'-सम्पादक पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'से कहा था, "तुम्हारे प्रतिनिधि-से बढ़कर सूक्ष्मदर्शी पत्रकार किसी भाषाके पास नहीं था।"]

इस प्रकार १९३५–३६ में मेरे रिपोर्ताज़का स्वरूप निखर आया था और यह कहना भी सम्भवतः इतिहासके साथ औचित्यका निर्वाह ही माना जायेगा कि यह हिन्दी रिपोर्ताज़के स्वरूपका ही निखर आना था।

मेरे लिए उसका व्याकरण है यह कि रिपोर्ताज़ घटनाका हो, दृश्यका हो या उत्सव-मेलेका हो, उसे ज्ञान और आनन्दका संगम होना चाहिए। मैं जो कुछ देखता हूँ उसे बहुत विस्तारमें देखता हूँ, बहुत गहराईमें देखता हूँ; तब चिन्तनमें उस देखे हुए दृश्यके अर्थ फैलाता हूँ, फलितार्थ फैलाता हूँ और लिखते-लिखते उसे इतिहासकी कड़ी और जीवनकी लड़ीसे इस तरह जोड़ देता हूँ कि एक सम्पूर्ण चित्र बन जाता है। लिखते समय मैं उस दृश्यके साथ इतना तल्लीन रहता हूँ कि मुझे यह भान ही नहीं होता कि मैं इस समय उस वर्णनीय यात्रा, उत्सव, घटना या दृश्यके बीच नहीं हूँ। कहूँ, देखते समयकी सूक्ष्मता और लिखते समयकी तल्लीनता ही रिपोर्ताज़की सफलता है।

लेखमें घटनाका विवरण होता है, स्केचमें रेखाचित्र और संस्मरणमें जीवनका स्पन्दन, पर विवरण, चित्र और स्पन्दनका समन्वय ही रिपोर्ताज़ है। दूसरे शब्दोंमें रिपोर्टिङ्में समाचार होता है, सम्पादकीयमें विचार, पर रिपोर्ताज़में समाचार और विचारका संगम है। शायद यों कहकर मैं और समीप आ जाऊँ कि उसमें दृश्य और चिन्तनका संगम है। यही कारण है कि देखते-देखते रिपोर्ताज़ हमारे साहित्यमें आदरके स्थानपर आ बैठा है और हमारी पत्रकारिताकी शक्ति बन गया है।

रिपोर्ताज लेखनमें १९३५–३६ के बाद भी मैंने बराबर प्रयोग किये हैं, रिपोर्ताज लिखे हैं; दूसरे अनेक लेखक बन्धुओंने भी। मेरी दृष्टिमें इस विधाको कलाकी परिपूर्णता देनेका श्रेय श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनको प्राप्त है। उनके लिखे रिपोर्ताज – जब पाम्पेआईको प्रलयने वरा, गंगा-वोल्गाके संगमपर, असीम आकाशके बियाबानमें और एक डाकू : दो खत : तीन दृष्टियाँ आदि हिन्दी साहित्यके ऐसे रत्न हैं, जो किसी भी भाषा-सरस्वतीके कण्ठहारमें प्रदीप्त हो सकते हैं, उनकी दृष्टिकी सूक्ष्मता, गहरे अध्ययनकी पृष्ठभूमि, भाव-नियोजन और सन्देश-दानकी क्षमता अनन्य है।

अपने चुने हुए रिपोर्ताज़ पाठकोंको भेंट करते समय मुझे आशा है कि इस विधाका महत्त्व दिन-दिन बढ़ेगा और लेखक-पाठक इसकी ओर अधिकाधिक आकर्षित होंगे; क्योंकि रिपोर्ताज़ पाठ्यमें अदृश्यको दृश्य बनानेकी जीवन्त कला है।

विकास लिमिटेड, सहारनपुर
१५ अगस्त १९६३

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

सम्पूर्ण आदर और प्यार के साथ
अपने पाठकों को,

जिसका व्यक्तित्व जातियों, धर्मों, प्रदेशों और देशों से
ऊपर उठ, विश्वात्मक हो गया है,
जिसने कभी मेरे साथ बेवफाई नहीं की,
और जिसके साथ मैंने कभी गद्दारी नहीं की,
जिसने सदा पूरे हृदय से मेरी परवाह की
और जिसकी परवाह ने मेरी कलम की मुस्कान को
समाज के सदाचारों के प्रति बेपरवाह कर दिया,
जो सर्वदा मेरा इष्ट रहा
और जिसका मैं सर्वदा अभीष्ट रहा,
जिसके साथ मैं जीता रहा हूँ
और जिसके साथ मैं मृत्यु के बाद भी जीता रहूंगा,
मेरी यह कृति भेंट।

के. एल. प्रभाष

वे सुनते ही नहीं !

जो बोले, सो अभय ! भारत माताकी जय !!

इनक़िलाब, ज़िन्दाबाद !

क़ौमी नारा, वन्दे मातरम् !

१९२० से १९४७ तक चलनेवाले स्वतन्त्रता आन्दोलनमें ये नारे बार-बार सुने थे, लगाये थे। कौन-सा शहर, क़स्बा या गाँव है, जिसकी गलियाँ और चौराहे इन नारोंसे नहीं गूँजे ? दिलोंकी गहराइयोंसे इस तरह उभरते थे ये नारे कि धरती और आसमान उनकी गूँजमें समाकर एक हो जाते थे और तब भारत माताकी एक शानदार तसवीर लोगोंकी आँखोंमें और दिलोंकी उन गहराइयोंमें समा जाती थी।

स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, योगी अरविन्द, दादा भाई नौरोजी और लोकमान्य तिलकके बोल दिलोंकी गहराइयोंमें समायी भारत माताकी उस शानदार तसवीरको पूजनीय बना देते थे। यह तसवीर अतीत-की, बीते हुए युगकी तसवीर थी। इसके साथ ही आ-खड़ी होती एक और तसवीर, जो शानदारकी जगह दयनीय – दुःखभरी होती, यह तसवीर होती आजकी गुलाम भारत माताकी।

दिलों ही दिलोंमें दोनों तसवीरोंकी तुलना होती और तब, उन दिलोंमें दुःख भर जाता, पर यह दुःख एक जीती-जागती क़ौमका दुःख होता, इस-लिए इस दुःखमें निराशाका अँधेरा न होता, आशाका प्रकाश होता, इरादों-की बुलन्दी होती और इस तरह दिलों-दिमाग़ोंमें बलिदानकी क़ुरबानीकी भावना भर-भर उठती और नये जोशके साथ वे नारे फिर धरती और

आसमानको गुँजा देते :

जो बोले, सो अभय ! भारत माताकी जय !!

इनक़लाब, ज़िन्दाबाद !

क़ौमी नारा, वन्दे मातरम् !

॥ १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हुआ, इनक़लाब ज़िन्दाबादकी जीती-जागती सूरत सामने आयी, भारत माताकी दयनीय और दुःख-भरी तसवीरका अन्त हुआ और अतीतकी उस शानदार तसवीरके साथ चमकदार और ताक़तवर भविष्यके निर्माणकी यात्रा आरम्भ हुई । ॥

इस यात्राको दुनियाने पहले सन्देहकी नज़रसे देखा, तब आशाकी नज़रसे और इसके बाद भरोसे – विश्वासकी नज़रसे । सन्देहसे विश्वास तक पहुँचनेमें दुनियाको कई साल लग गये, पर भारत अपनी निर्माण-यात्रा-पर चला, तो बस चला ही ।

एक दिन मैं उभरते हुए भारतका दर्शन करनेके लिए घरसे निकल पड़ा और घूमते-घूमते भारतके सीमा क्षेत्रोंमें जा पहुँचा ।

पर्वत ही पर्वत, वन ही वन – एकसे एक सुन्दर दृश्य । देखकर मन भाव-विभोर हो उठा और मैं सोचने लगा, हमारा यह भारत कितना महान् है और इसकी ये सीमाएँ कितनी महत्त्वपूर्ण हैं कि इसकी भूमिके हर कणमें इतिहासकी एक-न-एक कड़ी समायी हुई है । ये ही सीमाएँ हैं जिन्हें लाँघकर विदेशी आक्रान्ता हमारे देशमें घुसे और ये ही सीमाएँ हैं, जिन्हे लाँघकर हमारे भिक्षु और प्रचारक राष्ट्रकी महान् संस्कृतिका सन्देश दूसरे देशोंमें ले गये । दूसरे देशोंको जहाँ अपने आक्रमणोंपर गर्व है, वहाँ भारतको अपने निष्क्रमणोंका गौरव प्राप्त है । ओह, कितना महान् है हमारे देशका इतिहास !

अजीब-सा रूप, अजीब-सा वेश और अजीब-सा रंग-ढंग – देह विशाल और चेहरा कुछ परेशान-सा ! देखकर मनमें जिज्ञासा जागी – यह कौन है इस बीहड़ वनमें ?

उस अजीब – अद्‌भुत जीवने भी मुझे देखा और वह इस तरह मुस-कराया, जैसे मेरा कोई परिचित हो – जाना पहचाना ! मैंने बहुत सोचा, पुरानी स्मृतियोंके भण्डारकी भरपूर तलाशियाँ लीं, पर किसी भी यादने साथ न दिया, मैं उसे पहचान न पाया और जब पहचाना ही नहीं, तो कहूँ क्या ?

"नहीं पहचान पाये ?" वह और तेज़ीसे मुसकराया और जब मैंने सिर हिलाकर इनकार किया, तो वह इतने जोरसे हँसा कि मेरी पसलियाँ भी हिल गयीं, पर तभी उसके ठण्डे और मीठे बोल मेरे कानोंमें पड़े, "अरे, तुम मुझे पहचान नहीं पाये, मैं तो वही हूँ, जिसे तुम अभी याद कर रहे थे !"

मुझे लगा कि यह भयानक जीव मुझे अपनी बातोंमें उलझा रहा है, इसलिए ज़रा गरमीसे मैंने कहा, "भला, मैं क्यों याद करता तुम्हें ?"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और तब बोला, "भाई मेरे, डरो मत, मैं मौत नहीं हूँ, जो बूढ़ेके याद करते ही आ खड़ी हुई थी और न वो शैतान हूँ, जो याद करते ही आ खड़ा होता है ।"

"फिर कौन हो तुम ?"

"मैं ? अरे भाई, मैं तो इतिहास हूँ, इतिहास । तुम मुझे अभी याद कर रहे थे या नहीं ?"

"तुम इतिहास हो ? बड़ा अजीब-सा रंग-रूप है तुम्हारा, पर ख़ैर, छोड़ो इन बातोंको और यह बताओ कि तुम इस समय इतने ख़ुश क्यों हो ? क्या कोई ख़ास ख़बर है ?"

"ख़ुश ? मैं और ख़ुश ?" इतिहासके बोल दु:खमें दब-से गये – "मैं ख़ुश कहाँ हूँ ? और भाई, इतनी असफलताओंके बीच कोई ख़ुश कैसे हो सकता है ?"

"तुम असफल हो ? क्या है तुम्हारी असफलता ?"

"मेरी असफलता ? अरे, वो बहुत गहरी है, बहुत बड़ी है, पर तुम

थोड़ेमें उसे यों समझो कि मैं बार-बार कहकर भी दुनियाको अपनी बात समझा नहीं पाता और बात भी कोई अपने मतलबकी नहीं, उस दुनियाके ही फ़ायदेकी। मेरा दुःख उस अध्यापक-जैसा है, जो नये-नये रूपोंमें अपने विद्यार्थीको उसका पाठ पढ़ाता है, पर विद्यार्थी उसे समझ नहीं पाता। लो, यों समझो कि मेरा दुःख उस वैज्ञानिकका है, जिसका फ़ार्मूला सही है, प्रयोगकी विधियाँ सही हैं, पर जिसका प्रयोग हर बार असफल रहा है।"

मैंने कहा, "उस अध्यापक और वैज्ञानिकका दुःख समझना सुगम है, पर यह समझना कठिन है कि तुम्हें वह दुःख क्यों हो रहा है?"

"हाँ भाई, तुम मेरा दुःख क्यों समझोगे? तुम भी तो आखिर उसी दुनियाके एक आदमी हो, जो लाखों सालोंसे समझकर भी मेरी बात नहीं समझ रही है" – इतिहासका स्वर तीखा हो आया – "दुनियाको प्यार मुहब्बतकी ज़रूरत थी, पर वह आपसकी खींच-तानमें फँसी हुई थी। मैंने उसे एक पाठ पढ़ाया १९१४ से १९१८ तक, जिसे तुम पहला वर्ल्ड वार – दुनियाकी लड़ाई – कहते हो। इसमें खूब बम बरसे और दुनियाने विध्वंसका खूब नंगा नाच नाचा। हारनेवाले तो मर ही गये और जीतनेवालोंका हाल हारनेवालों-जैसा हो गया, पर प्रश्न तो यह है कि इतने बड़े विध्वंससे दुनियाने क्या सीखा? क्या दुनियाने युद्धके बदले मित्रताका पाठ पढ़ा?

तुम भी जानते ही होगे कि इस प्रश्नका उत्तर क्या है? तब दूसरी लड़ाईके रूपमें वही पाठ मैंने फिर दुनियाको पढ़ाया और मामला एटम बम तक पहुँचा। दुनियामें ऐसा विध्वंस मचा कि उसकी नस-नस टूट गयी और वह हाय-हाय कर उठी, पर क्या इससे दुनियाने शान्तिका पाठ पढ़ा? नहीं पढ़ा, तो बताओ तुम्हीं कि यह मेरी भयंकर असफलता है या नहीं?"

इतिहासका मुख विवर्ण हो उठा, बोल भारी हो गया और उसकी आँखें भर आयीं। बड़ी कठिनाईसे अपनेको सँभालकर उसने कहा, "लो,

छोड़ो दुनियाकी बात, अपने देशकी तरफ़ देखो। लाखों-लाख सालके अनुभव हैं इस देशको। इन अनुभवोंमें चढ़ावके भी अनुभव हैं, उतारके भी, उत्थानके भी, पतनके भी, पर क्या उन अनुभवोंसे कुछ लाभ उठाया गया है? क्या इस प्रश्नपर गहराईसे विचार किया गया है कि किन कारणोंसे देशका उत्थान होता है, किन कारणोंसे पतन? मैं कहता हूँ नहीं और यही मेरी असफलता है!"

इतिहासकी आवाज़में बल था, सचाई की तेज़ी थी। मुझपर उसका प्रभाव पड़ा, फिर भी उसकी गहराईमें उतरनेके लिए मैंने कहा, "क्या तुम अपनी बात समझानेके लिए कुछ उदाहरण दे सकते हो?"

उसका चेहरा तन गया और आवाज़ तेजीसे भर उठी—"उदाहरण? उदाहरणोंकी बात मुझसे मत करो। मेरे पास उदाहरणोंके सिवाय और है ही क्या? लो सुनो, उनमें-से एक रखता हूँ तुम्हारे सामने : इस देशके करोड़ों आदमी पुरुषोत्तम रामका नाम लेकर शान्ति पाते हैं, पर रामका जन्म जिस महान् वंशमें हुआ उसके उत्थान और पतनपर किसीका ध्यान नहीं जाता कि उस वंशके लोग किन कारणोंसे एक महान् साम्राज्यका निर्माण करनेमें सफल हुए और किन कारणोंसे वह महान् साम्राज्य बादमें नष्ट हो गया?

लो, इधर ध्यान दो, मैं उसकी एक झाँकी तुम्हें दिखाता हूँ। राजा दिलीपका राज्य बहुत बड़ा नहीं था, पर उसमें शान्ति थी, व्यवस्था थी, सुख था। उनके घरमें महान् प्रतापी पुत्र रघुका जन्म हुआ, जिसने अपने चरित्र, वीरता और प्रशासनकी श्रेष्ठतासे दिग्विजय कर उस राज्यको एक विशाल साम्राज्यमें बदल दिया।

जानते हो इस साम्राज्यकी बात? ओह, उसकी कोई उपमा नहीं, किसीसे तुलना नहीं। रघुकी विजय-यात्राओंका एक नक़शा बनाकर यदि उसपर नज़र डाली जाये, तो साफ़ दीखेगा कि उसका साम्राज्य इतना विशाल था कि उतना विशाल न मुग़ल साम्राज्य हो सका, न और ही

कोई साम्राज्य ।

महाराजा रघुने इस विशाल साम्राज्यपर अखण्ड राज्य किया और बादमें अपने पुत्र अजको उसे सौंप, स्वयं संन्यास ले लिया। राजा अज और उनके पुत्र दशरथने इस साम्राज्यकी अच्छी तरह रक्षा की और पुरुषोत्तम रामने तो उसके प्रभावको समुद्र पार तक फैला दिया, पर रामके बाद क्या हुआ ?

सारे वंशकी जो एकाग्रता और शक्ति अयोध्यामें केन्द्रित थी, वह विभिन्नतामें बँट गयी। कुछ लोग कुशावलीमें जमे, तो कुछ लवकी राजधानी शरावतीमें। भरतके दो पुत्र थे पुष्कल और तक्ष। पुष्कलने अपनी राजधानी पुष्कलावती बनायी, तो तक्ष तक्षशिलामें प्रतिष्ठित हो गये। लक्ष्मणके पुत्र अंगद और चन्द्रकेतुने अपनेको एक नये प्रदेशका राजा घोषित किया और इस तरह अपने समयके सर्वश्रेष्ठ राज्यकी राजधानी अयोध्या खण्डहर हो गयी ! राजधानी ही क्या खण्डहर हुई, रघुका महान् साम्राज्य ही खण्डहर हो गया।"

इतिहासने एक लम्बी साँस ली और कुछेक क्षणोंके लिए चुप हो गया, पर ज़रा ठहरकर वह बोला, "तुमने समझी इस उदाहरणकी गहराई ?" उसकी आवाज़में अब तेज़ीका करारापन नहीं, दुःखका भीगापन था। अपने प्रश्नका आप ही आप उसने उत्तर दिया, "यह गहराई है विशाल दृष्टिसे हटकर मसलोंको छोटी दृष्टिसे देखना। विशाल भारतके विशाल हितोंको भूलकर राज्य, प्रान्त, गुट, व्यक्ति, जाति, सम्प्रदाय और भाषा आदिके मोहमे उलझना। यों कहो कि समग्रको भूलकर खण्डमे सोचना, खण्डमे जीना और वंश हो, जाति हो, देश हो या दल हो, जो खण्डमे सोचता है, खण्डमें जीता है, उसे समग्रता – पूर्णता कहाँ मिल सकती है ?"

मैंने कहा, "ठीक है तुम्हारी बात कि खण्डित दृष्टि, खण्डित चिन्तन और खण्डित जीवनसे पूर्णता नहीं मिल सकती।"

इतिहासका स्वर तेज़ हो उठा – "मेरी बात तो ठीक है ही, पर

प्रश्न तो यह है कि इन्हीं दोषोंके कारण लम्बी गुलामीके बाद जब अपने शहीदोंके बलिदान और वीरोंके तप-त्यागसे देश स्वतन्त्र हुआ, तो क्या तुमने विशाल भारतके विशाल हितोंकी दृष्टिसे देखना-सोचना सीखा या तुम तब भी राज्य, प्रान्त, गुट, व्यक्ति, जाति और सम्प्रदायके पचड़ोंमे फँसे हुए हो ? इस प्रश्नका उत्तर दो, तुम्हें मेरी असफलताका रहस्य मिल जायेगा।"

अब हम स्वतन्त्र हैं

१५ अगस्त १९४७ को भारत पूर्ण स्वतन्त्र हो गया। मैं कह नहीं सकता कि मुझे कितनी खुशी हुई। सचाई यह है कि १९२० से १९४७ तक के २७ वर्षोंमें मेरे मानसका दृष्टि-बिन्दु भारतकी स्वतन्त्रतापर टिका था और इन वर्षोंमें गुलामीकी पीड़ासे मेरी आत्मा छटपटाया करती थी। जंगलोंके एकान्तमें मैं अकसर बन्दिनी माँका ध्यान कर रोया करता था और जेलके सीखचोंमें बैठे-बैठे भी मैं गुलामीकी असह्य पीड़ाका अनुभव किया करता था। ओह, कैसी तड़प थी वह! यह तड़प भाषणोंमें, लेखों-में, बात-चीतोंमें और जीवनके हर कार्य-व्यवहारमें समायी हुई थी, १९२८-२९ में मैंने लिखा था —

कैसी लज्जा की घटना है
हम जीवित और माँ परतन्त्र!
एक बार मिल जूझें आओ
मर जायें या बनें स्वतन्त्र!
हुए सफल यदि तब क्या कहना
मरना पड़े, तदपि क्या शोक!
पारतन्त्र्य के बन्दीगृह से
क्या न भला है यम का लोक!

परतन्त्रताके इस बन्दी-गृहकी दीवारें टूटीं तो जीवन एक अद्‌भुत नशे-से भर उठा और १५ अगस्त १९४७ की रातको पल-भर भी नींद नहीं आयी। नींद तो तब आये, जब कोई बिस्तरपर लेटे। कभी मैं प्रार्थना करता, कभी पृथ्वीको थपथपाता, कभी आसमानको देखता और कभी

गाने लगता।

कभी वो दिन भी आयेगा कि जब आज़ाद हम होंगे!
ये अपनी ही ज़मीं होगी, ये अपना आसमाँ होगा!

ओह, कितनी हसरत है शहीद कवि ओम्प्रकाशकी इन पंक्तियोंमें! आज वह हसरत पूरी हो गयी थी और मुझे अनुभव हो रहा था कि हमारे शहीद आज आसमानमें नाच-गा रहे है। मुझे लग रहा था कि मैं आज बदल गया हूँ, कुछ और हो गया हूँ और मेरा रोम-रोम स्वतन्त्रताके गौरवसे भर उठा था।

स्वतन्त्रताके साथ ही आयी साम्प्रदायिक उपद्रवोंकी बाढ़। चीज़ोंका अभाव और कण्ट्रोलके बन्धन तो थे ही, शरणार्थी बन्धुओंकी दुःखगाथाने कोढमें खाजका काम किया और जीवन दूभर हो उठा। जो मिलता, कहता – "क्यों साहब, यही है आपकी आजादी!"

यह कहनेमें भी लोग न चूकते – "इससे तो वह गुलामी ही अच्छी थी!" और यह भी कि "कहाँ है आजादी!" सचमुच आज़ादी कहीं न थी, याने आजादी तो सब जगह थी, पर उसकी अनुभूति कहीं न थी, उसके गौरवका एहसास किसीमे न था। मेरा मन दुःखसे भरा था, पर इसका उत्तर मेरे पास न था कि जब देश पूर्ण स्वतन्त्र है, तो देशवासी यह अनुभव क्यों नहीं करते कि हम स्वतन्त्र हैं!

मई १९४८ : मसूरी।

"चलिए, आपको वुडस्टाकका मेला दिखा लाऊँ।"

आते ही सुहृद्वर श्री गिरीशदत्त पाण्डेयने हड़बड़ी-सी मचा दी, तो मैंने पूछा, "अरे भाई, क्या है यह वुडस्टाक?"

पाण्डेयजी बोले, "यह नये ढंगका इण्टरमीडिएट कॉलेज है। भाई साहब, मसूरीका यह कॉलेज देशमे इतना प्रसिद्ध है कि इसमे नेहरू-परिवारके बालक भी शिक्षा पा चुके है। आज उसीका वार्षिक मेला है।"

हम लोग उठ चले और पहुँच गये वुडस्टाकके मेलेमें। मेला क्या है, क्लासोंके कमरोंमें दूकानें लगी हैं, जिनमें स्कूलमें बनी और बाहरसे आयी चीज़ें बिक रही हैं। विक्रेता सब अँगरेज़ हैं – स्कूलके अध्यापक, अध्यापिकाएँ और कार्यकर्त्ता। खाने-पीनेकी दूकानोंमें शरबत है, आइसक्रीम है, भोजन है, टोस्ट हैं। विक्रेताओंने अपने देशमें विचित्रता और विविधताका मनोरंजक संगम कर रखा है। टोस्टवालोंने काग़ज़की बड़ी किश्तियाँ – टोपियोंकी जगह ओढ़ रखी हैं और उनपर लिखा हुआ है – हॉट डॉग्स! इनमें एक आदमी बहुत मज़ेदार है। वह एक अजीब मुद्रा और स्वरमें ज़ोरसे ग्राहकोंको पुकारता है और कभी हिन्दीमें भी कुछ कहता है। यह हँसकर स्वागत करता है, हँसकर चीज़ें देता है और हँसकर पैसे लेता है।

भोजनवालोंने काग़जके बड़े-बड़े 'बो' गलेमे लगा रखे हैं। काग़ज पीले हैं और गोरे चेहरोंपर बहुत ही अच्छे लगते हैं। बच्चोंके खिलौने बेचनेवालोंने खजूरकी टोकरियोंको टोपी बना लिया है। हरेकमे उमंग है और खिल-खिली हँसी तो अँगरेजोंका जैसे सामूहिक चरित्र ही है।

मैंने वहाँ एक भी अँगरेज़ ऐसा नहीं देखा, जो ख़रीदते समय न हँसा हो या जिसने बेचनेवालोंसे चार चुहल न की हो।

अँगरेज़ोंके साथ ही वहाँ सैकड़ों हिन्दुस्तानी स्त्री-पुरुष भी थे। इनमें खद्दरवाला तो मैं अकेला ही था – बाक़ी सब अँगरेज़ोंके गोद लिये बेटे थे। ये सभी सुखी-समृद्ध थे। उनका सुख और उनकी समृद्धि, उनकी वेश-भूषा और यहाँ उपस्थितिसे ही स्पष्ट थी। फिर भी उनमें अँगरेज़ों-सी प्रसन्नता न थी।

अचानक मेरा ध्यान इस बातपर गया कि यहाँ दो जातियोंके मनुष्य हैं। एक वह, जिसने अभी-अभी भारतमें अपना राज्य खोया और एक वह जिसने अभी-अभी भारतमें अपना राज्य पाया। मैं दोनोंको ग़ौरसे देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि न तो खोनेवालेमें दीनता ही है, न पानेवालेमे ग़ौरव?

मैं अनुभव कर रहा हूँ कि अँगरेज़में दीनता नहीं है, पर शासकका वह

पुराना दर्प भी उसमें नहीं है – उसके स्थानमें उसमें अब नागरिकताकी सौम्यता है। परिस्थितियोंके साथ अपनेको आत्मसात् करनेमें अँगरेज़ बेजोड़ हैं और यही मैं समझ पा रहा हूँ कि नये युगके साथ नयी करवट ले वह दीनतासे बच गया है।

मैं सोच रहा हूँ अपने मतकी वही पुरानी बात कि मेरे देशवासियोंमें स्वतन्त्रताके गौरवकी जागृति अभी क्यों नहीं हुई? बहुत सोचनेपर भी यह प्रश्न मेरे सामने खड़ा रहा, पर उसका उत्तर मुझे नहीं मिला और मैं मेला देखकर लौट आया।

कई दिन बाद श्री पाण्डेय फिर उसी हड़बड़ीके साथ और आज साथमें श्री ब्रजमोहन गुप्त; इस हुक्मके साथ कि चलो हैकमैनमें। हैकमैन मसूरी-का एक शानदार होटल। पिछले वर्षोंमें वह राजाओं, नवाबों और देशी साहबोंका स्वर्गधाम रहा है।

हमने भी अब इसमें प्रवेश किया। हॉल भरा हुआ था, पीछेकी मेज़ हमें मिली। एक बैरेसे बातें हुईं और हैकमैनके अतीतकी यह झाँकी मिली – "हैकमैन अब तो उजड़ गया है बाबूजी! पहले यहाँ ऐसे लोग भी आते थे कि ६०-६५ रुपयेका खाया-पिया और १००) का नोट फेंका। हमने ३५-४० रुपये तश्तरीमें रखकर पेश किये और एक फ़र्शी सलाम झुकाया। उन्होंने हमारी तरफ एक बार देखा और इशारा कर दिया – उठा लो! वे हमारे दिये रुपये उठाना अपनी शानके ख़िलाफ़ समझते थे। यह राजा-नवाबों का हाल था। इनसे नीचेके जो लोग आते थे, वे ५-७ रुपये का खा-पीकर १०) का नोट थमाते थे और तश्तरी छूना शानकी किरकिरी मानते थे।"

एक दूसरे बैरेने कहा, "सरकार, जो मसूरी आकर हैकमैनमें न आये, वह सोसायटीमें छोटा समझा जाता था। तब हैकमैन चीज़ ही कुछ और थी। अब इसमें क्या रखा है सरकार!"

मैंने पूछा, "क्यों भाई, अब क्या कमी आ गयी है हैकमैनमें ?"

बोला, "एक तो अब वे राजा-नवाब छूमन्तर हो गये हैं। सुना है सरदार पटेलने उनका ऐसा शिकंजा कस दिया है कि मसूरी तो दूर, अब वे अपनी कोठीके बरामदेमें झाँकते हुए भी झिझकते हैं। दूसरे, काँग्रेसने शराब बन्द कर दी है। शराब ही यहाँकी जान थी—रोशनी थी। वो पैग चलते थे कि परिस्तान धरतीपर उतर आता था।"

ज़रा रुककर बैरेने कहा, "बाबूजी, मुल्कमे ऐसी मारकाट मची कि मुसलमान एक नहीं आया और सरकार, खाने-पीनेमें मुसलमान खूब बटुआ खोलता है। दो सालसे ये शरणार्थी यहाँ आ गये हैं, तो मसूरीमें दिये भी जल रहे हैं, नहीं तो यहाँ घुप्प हो जाता बाबूजी ! मसूरी असलमें अँगरेज़ोंका मज़ा-घर था। वे बेचारे गये लद, थोड़े-बहुत हैं, उनका भी पत्ता जाने कब कट जाये !"

चलते-चलते बैरेने कहा, "अब तो यहाँ जो कुछ हैं, ये पंजाबी ही है, बाबूजी !"

इसी उजड़े हुए हैकमैनमें हम बैठे थे, पीछेकी एक मेज़पर, जहाँसे पूरा हॉल हमें दीख रहा था। वे सामने बैठे हैं एक बूढ़े राजा साहब और उनके पास ही एक ऊँचे अफ़सरकी पत्नी। इनके सामने ही वह एक स्वस्थ और रूपवती सुन्दरी; जिसके अंग-अंगमें है थिरक और शोख़ी ! ये कोई रानी हैं, जिनके राजा है अपनी अँगरेज़ पत्नीके साथ विलायतमें और ये बिता रही हैं यहाँ विधुर जीवन। वे दूर बैठे हैं एक और अफ़सर, कुछ अँगरेज़ स्त्री-पुरुष और बाक़ी सब पंजाबी भाई-बहनें !

अँगरेज़ संयोजकने अँगरेज़ीमें घोषणा की कि वाद्योंमें स्वर जागे और जोड़े उठे। बूढ़े राजाके साथ वह अफ़सर-पत्नी और रानी साहबाके साथ उनके वे कोई। इसके साथ यह और उसके साथ वह। नृत्य आरम्भ।

बूढ़ा राजा पुराना खिलाड़ी है और श्रीमतीजी विलायतके नृत्य-घरोंकी

चेली। खूब जोड़ी है।

मैं कल्पनाकी सीढ़ी लगा राजा साहबके भीतर उतर गया। दोनों फेफड़े आपसमें बातें कर रहे थे। बायेंने कहा, "क्या नाच और क्या तमाशा; जब आँखोंमें लाल परीका सरूर न हो।" दायाँ बोला, "देशमें जो कुछ हुआ, अच्छा हुआ, पर ज़िन्दगीके ये पाँच-सात साल और आरामसे कट जाते!"

वह नाच रही है रानी! इसके पैरोंमें थिरक, आँखोंमें शोख़ी और देहमें व्यक्तित्व है। मैं सोच रहा हूँ – यह बेचारी विधवा है या सधवा? देशमें हज़ारों स्त्रियाँ धनके नामपर पुरुषोंके खूँटेसे बाँध दी गयी हैं। उन्हें सन्तोष है कि वे विवाहिता हैं और यह सन्तोष ही उनका सौभाग्य-सिन्दूर है। साड़ी, आभूषण और सुविधाओंमें अपनेको भूली जीवनका घेरा घूम रही है। साड़ी, आभूषण और सुविधासे अलग तनको जो कुछ चाहिए, समाजमें वह भी दुर्लभ नहीं। जीवनमें कभी भीतरकी सच्ची प्यास या कराह जागती भी है, तो हैकमैनके दवाख़ानेमें उसकी गोली सुलभ ही है – फिर विद्रोहकी आग इनमें कैसे जले? क्यों जले? और कौन जलाये?

पतिदेवके लिए भी अपने कार्यपर पछतानेकी गुंजायश नहीं। उनसे स्वयं देवीजी या मुझ-सा कोई सुधारक कुछ कहे, तो वे कहते हैं, "अरे भाई मैं विलायतमें रहूँ या देशमें, इसके साथ रहूँ या उसके, उन्हें तो कोई कष्ट नहीं है। उनके आरामका तो मैंने पूरा प्रबन्ध कर रखा है!"

उनकी दृष्टिमें 'पूरे प्रबन्ध' का अर्थ है – रोटी-कपड़ेका प्रबन्ध। तब ठीक है, श्रीमतीजीके लिए विद्रोह-चिन्ता व्यर्थ है और श्रीमान्‌के लिए आत्मचिन्ता। खेलो, कूदो, मज़ा करो, क्या रखा है विद्रोहमें और क्या धरा है आत्म-बोधमें?

नृत्य समाप्त हुआ, तो कुछ बेहूदे गाने हुए और बहुत घटिया ढंगका एक हास्य-सा। दर्शक तालियाँ बजा रहे थे, जैसे वे कलाका कोई महान्

प्रदर्शन देख रहे हों। डॉ० ब्रजमोहन गुप्तने कहा, "ये कितने दयनीय हैं कि इस बेहूदगीपर भी हँस रहे है।"

मैंने सोचा, मनोरंजन भी मनुष्यकी ऊँचाईका एक मापदण्ड है। अँगरेज़ोंने अपने स्वार्थके लिए हमारे समाजमें एक ऐसे वर्गका निर्माण किया, जो अपनी मानसिक हीनतासे अँगरेज़ोंके राज्यका, अपने देशकी ग़ुलामीका, समर्थन करनेमें न चूके! इसी वर्गके हैं ये लोग, जो हँस-हँसकर तालियाँ पीट रहे हैं।

कार्यक्रम समाप्त हुआ। अब मैं हैकमैनके हॉलसे बाहर था, खुले वातावरणमे, जहाँ मस्तिष्क अपने भीतर सारे समाजको लिये हुए था। उसीमें उभर आया फिर वह लाल प्रश्न – "मेरे देशवासियोंमें स्वतन्त्रताके गौरवकी जागृति क्यों नहीं हुई?" एक नया प्रकाश मेरे भीतर आ चला हैकमैनके प्रकाशगृहसे। इस प्रकाशमें मैंने देखा – मेरे प्रश्नका उत्तर मेरे सामने है।

देशका एक यह वर्ग है, जो अनुभव करता है कि १५ अगस्त १९४७ को उसका सब कुछ छिन गया है।

देशका एक वह वर्ग है, जो धरतीकी धूलमें लोटा हुआ है और स्वतन्त्रताका प्रकाश जिस तक अभी पहुँच ही नहीं पाया।

एक है हमारे समाजका आकाश, दूसरा धरती। इस धरतीपर इधर स्वतन्त्रताका सूर्य निकला, उधर साम्प्रदायिकताकी बाढ़ आयी। इसी बाढ़के साथ मँहगाई और अभावका कूड़ा-कचरा भी बह आया, जो दिमाग़ोंपर इस तरह छा गया है कि धरती आजकी दलदलमें इस तरह घिर गयी कि कलके स्वर्णकलशको देख ही न सके!

चिन्तनने कहा, प्रश्नका उत्तर स्पष्ट है कि इस परिस्थितिमें कौन है, जो स्वतन्त्रताके गौरवसे दीप्त हो और ग़ुलामीकी सिंधड़नसे ऊपर उठकर भभक उठे।

प्रश्नका काम-चलाऊ उत्तर मिल गया, पर उससे मन हलका न हुआ था। तब आया १५ अगस्त १९४८ – भारतीय स्वतन्त्रताकी पहली वर्ष-गाँठ ! शासन और जनता दोनोंने एक हो इसे मनाया। फ़ौजी प्रदर्शन था, जलूस था, जलसा था – हज़ारोंकी भीड़ थी। मैं भीड़में लोगोंके चेहरे देख रहा था। उन्हें एक पुस्तककी तरह पढ़ रहा था। लोग स्वतन्त्रताकी वर्ष-गाँठ मना रहे थे, पर स्वतन्त्रताके गौरवका प्रकाश तो उन चेहरोंपर नहीं था। हृदयोंमें ही आग नहीं है, तो मुद्राओंमें गरमी कहाँसे आये ?

एक भाव भीतरसे मुझमें उमड़ उठा – कुछ धुंधला-सा, कुछ अधूरा-सा। मैंने उसे उलटा-पलटा कि पकड़ पाऊँ – ग़ुलामी गयी है, आज़ादी आयी है। हाँ, ग़ुलामी गयी है, आजादी आयी है, तो फिर लोगोंमें स्वतन्त्रताकी चेतना क्यों नहीं है ! धुंधलापन कम हो चला और यह आया प्रकाश-भरा प्रश्न – आनेवालीको जिन्होंने नहीं पहचाना, क्या वे जानेवालीको पहचानते थे ?

मस्तिष्कका द्वार खुल गया – जिन्हे ग़ुलामीकी पीड़ाने कभी पीड़ित नहीं किया, उन्हे आज़ादीका गौरव कैसे उत्फुल्ल कर सकता है ?

तब मैंने सोचा – ग़ुलामको ग़ुलामीका दर्द न हो; यह अँगरेज़ राजनीतिका करिश्मा था !

आज़ादको आज़ादीका गौरव मिले, यह स्वतन्त्र राष्ट्रको राजनीतिका उत्तरदायित्व है !

साम्प्रदायिक उपद्रव शान्त कर दिये गये। गान्धीजीके महान् बलिदानसे देशको मनोवैज्ञानिक स्थिरता प्राप्त हुई। सरदार पटेलकी दृढ़तासे त्रावनकोर, जूनागढ़, हैदराबादमें उठे राजनैतिक तूफ़ान शान्त कर दिये गये और राज्योंको भारतमे मिलाकर अखण्ड भारतकी स्थापना हुई। वीरवर करिअप्पाके नेतृत्वमें कश्मीरमें पाकिस्तानियोंको कुचल दिया गया। नेहरूकी लोकप्रियतासे विश्वमें भारतका मान बढ़ा। नये संविधानने भारतमें

गणराज्य-स्थापनाकी घोषणा की। पहले आम-चुनाव शान्तिसे हो गये और व्यवस्थित शासन आरम्भ हुआ। पंचवर्षीय योजनाके माध्यमसे देशका नवनिर्माण आरम्भ हो गया। विश्वके महान् राज्योंकी ओरसे सहायता मिलने लगी। कण्ट्रोल हटा दिया गया – चीज़ोंकी सुलभता बढ़ी, जीवन सुगम हुआ और लोगोंके मनमें स्वतन्त्रताकी चेतनाका आभास झलकने लगा। पाकिस्तानकी नित नूतन शासकीय कलाबाज़ियोंके शीशेमें भारतकी उन्नति और भी स्पष्टतासे भारतवासी देख सके और इससे उनके मनमें स्वतन्त्रताकी चेतना-रेखाएँ और भी गहरी हो उठीं। विश्वके महान् पुरुषोंके आगमनसे इस गहराईमें एक नयी चमक आयी। इसी बीच विभिन्न राज्य सरकारोंने कुछ क़ानून बनाये। समाजके साधारण जनोंने न्यायालयमें उन क़ानूनोंको ललकारा और फलस्वरूप वे सरकारें हार गयीं और नागरिक जीत गये। इसने लोगोंके मनमें स्वतन्त्रताका विश्वास पैदा किया और लोग सोचने लगे – अब हम स्वतन्त्र है।

जून १९६० : मसूरी।

घूमने निकला, तो सूरज पहाड़ोंसे ऊपर आ ही रहा था और समय बहुत सुहावना था। पैर लम्बे हो गये और हैप्पी वेली जा निकला उस छोर तक जहाँ नीचे गाँव बसे हैं। दो गाँववाले कमरपर दूधके डिब्बे बाँधे चले आ रहे थे। मैं भी उनके साथ हो लिया और बातें होने लगीं। कोई आध मील तक घरेलू बातें करनेके बाद मैंने उन्हें तराजूपर धरा – "भैया, शहरी लोगोंकी शान है, मज़े हैं, पर मेरे-तुम्हारे-जैसे लोगोंको तो स्वराज्यका कुछ फ़ायदा पहुँचा नहीं।"

अरे साहब, सुनते ही वह बड़ा दूधवाला तमक उठा – "आपको नहीं पहुँचा होगा सोराजका फ़ायदा; हमें तो बहुत पहुँचा है।"

मैंने नाराज़ी-जैसे स्वरमें कहा, "क्या फ़ायदा पहुँचा है? जैसा पहले था, वैसा अब है।"

दूधवाला गरम हो उठा – "आपके शहरमें होगा वैसाका-वैसा, हमारे शहरमें तो जहाँ अँगरेज़का कुत्ता नहीं जा सकता था, वहाँ हम जाकर शानसे बैठते हैं। पहले डण्डेके पास-पास भी डरे-दुबके-से चलते थे। अब बीच सड़कमें चलते हैं, जैसे राजा नवाब हों।"

"मैंने अपनेको बदला और उसके स्वरमें स्वर मिलाया – "हाँ भाई-जी, आपकी यह बात तो ठीक है, डर तो अब किसीका नहीं रहा, अँगरेज़ ही अब तो बचकर चलता है।"

वे अपनी राह चले गये, मैं एक बेंचपर बैठ गया। समयकी बात, तभी एक घटना हो गयी। सामनेकी बेंचपर एक अपटूडेट व्यक्ति बैठे थे। नीचेसे आकर एक मैले कपड़ोंका पहाड़ी युवक उसी बेंचपर बैठ गया। उन्हें यह अच्छा नहीं लगा और झिड़ककर उन्होंने कहा, "ऐ, उधर बैठो!"

युवकपर झिड़कीका कोई असर नहीं पड़ा और बेरुखीसे उसने कहा, "क्यों? यहाँ तो काफ़ी जगह पड़ी है, आप फैलकर बैठ जाइए!"

वे सज्जन नाराज़ हुए, "बकता है! उधर बैठ!"

युवकपर ज़रा भी असर नहीं पड़ा। उसने अपने जूते भी बेंचपर ही रख लिये और तरारेसे कहा, "साहबजी, आज़ादी सारे हिन्दुस्तानको मिली है, कुछ आपको ही नहीं।"

वे सज्जन उठकर चले गये और मैं सोचने लगा – १५ अगस्त १९४७ को आज़ादी देशके नेताओंके हाथमें आयी थी, १९४८ में जिससे कुछ लोग अस्त-व्यस्त थे और कुछ अपरिचित, १९५१-५२ में जिसका स्पर्शभान देशके भावनाशील और बौद्धिक लोगोंने अनुभव किया था, १९५४-५५ में जिसके प्रति लोगोंके मनमे विश्वासकी रेखाएँ खिची थीं, १९६० में मैं उस आज़ादीके गौरवका एहसास लोगोंमें देख रहा हूँ। लोग अब अनुभव करते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं और हमें स्वतन्त्रताके अधिकार प्राप्त हैं।

सूरज खिल रहा था। मीठी धूप बरस रही थी। मैं उसमें नहाता-सा चला आ रहा था। आ गया बाज़ार, भीड़, आना-जाना, आवाज़ें – गति। मैंने देखा – सड़कपर जगह-जगह मूँगफलीके छिलके पड़े थे। पान-की पीकोंसे सड़क ख़राब थी। एक धक्का-सा लगा और तब मनमें उगा यह विचार – मेरे देशवासियोंमें स्वतन्त्र मानवके अधिकारकी भावना तो जाग उठी है, पर स्वतन्त्र मानवके कर्त्तव्यकी भावना नहीं जागी। जिस दिन यह जागेगी, हमारी स्वतन्त्रताका अनुष्ठान उसी दिन पूर्ण होगा।

लोहेके स्टैच्यू बोल उठे !

आदमीके चेहरेपर एक मुख है। मुखमें वाणी है, जो हृदय और मस्तिष्कके भावोंको भाषाका माध्यम देती है, पर इस वाणीके अतिरिक्त भी मनुष्यके चेहरेकी एक वाणी है, जो बिना भाषाके बोलती है।

मनुष्यको देखते ही हमपर, एक छाप पड़ती है। उसे हमारी भीतरी आँखें देखती हैं और मनके कान सुनते हैं, यह बिना भाषाकी ख़ामोश वाणी है।

यह मैंने कही आदमी—मनुष्य—इनसानकी बात, पर एक अजीब बात बताऊँ कि कुछ विशिष्ट भवनों-मकानोंमें द्वार तो होते ही हैं, मुख भी होता है और वाणी भी। मैंने दिल्लीके लाल क़िले और नयी दिल्लीके संसद्-भवनमें ऐसे चेहरे देखे हैं और उनकी ख़ामोश आवाज़ मेरे मनके कानोंने सुनी है।

उस दिन कलकत्तेकी रेड रोडसे गुज़रा, तो देखता हूँ, यह खड़ा है एक ओर एक विशाल भवन — सफ़ेद संगमर्मरसे निर्मित। द्वारके साथ उसका भी एक चेहरा है, चेहरेमें मुख है, मुखमें मूक वाणी है।

उसे सुननेको मैं अपने सूक्ष्म कानोंमें सिमट आया। वे ख़ामोश बोल कुछ यों थे — "मैं साम्राज्ञी विक्टोरियाका स्मारक हूँ — विक्टोरिया मेमोरियल — और मुझमें ताजमहलका सौन्दर्य एवं जुमा-मस्जिदकी विशालता है।"

मेरी आँखोंने निर्निमेष हो, एक बार फिर उसे अपने अंकमें समेट लिया, पर अन्तश्चेतनाकी अनुभूतिके बोल कुछ यों थे — "सौन्दर्य और विशालतामें सन्देह नहीं, पर तुममें ताजमहल एवं जुमा-मस्जिदकी वह

सजीव आन्तरिकता नहीं, जो आँखोंकी राह चाँदनी-सी मानसके आँगनमें भर जाती है।"

और मैं इस भवनके निकट हो, निहारने लगा।

बायाँ हाथ है कूल्हेपर और दायें हाथसे पकड़े है वह चोगा। नस-नसमें उसकी तनाव है – वीणाके तारका तनाव नहीं, जो उँगलीका स्पर्श पाते ही झंकृत हो वातावरणको एक मीठे – मुलायम स्पन्दनसे भर देता है; हाँ धनुषकी प्रत्यंचाका तनाव, जो चुकटीकी चिकौट पाते ही टंकोरसे वातावरणको एक पैने आतंकसे भर देता है – यह दर्पका, अहंकारका, तनाव, जो अपनी विजयके उल्लाससे नहीं, दूसरेकी पराजयके उपहाससे पनपता है।

विक्टोरिया मेमोरियलके सामने मैदानमें खड़ा है यह लॉर्ड कर्जनका स्टैच्यू। ओह, इस तरहकी अकड़ कि आदमीसे अपना ही आपा उठाये न उठे और थामे न थमे!

इस दर्पकी पृष्ठ-भूमि क्या है?

जिस छोटे-ऊँचे चबूतरेपर कर्जन खड़ा है, उसके चार कोनोंपर चार छोटी लौह-प्रतिमाएँ जड़ी हैं – पैक्स।

एकमें रानी खड़ी है और दो आदमी कपड़ा बेच-खरीद रहे हैं – एक ग्राहक, एक विक्रेता।

दूसरेमें रानी अकाल-पीड़ितोंको भोजन दे रही है।

तीसरेमें एक बालक तख्ती-पुस्तक लिये खड़ा है और एक माता फूलों-की टोकरी लिये।

चौथेमें एक फावड़ेवाला पुरुष है, खेतमें पानी सींचती एक नारी है, धान्य लिये बालक है।

क्या कहते है ये चार चित्रण?

ये कहते हैं: विक्टोरियाके राज्यमें अविकसित भारतको व्यापार-व्यवसाय

मिला, अकालकी भूखमें सहायता मिली, नहरोंके रूपमें कृषिका विकास मिला और शिक्षा मिली।

यह भारतके लिए अँगरेज़ी राज्यके दान-निर्माणका बखान हुआ। तो क्या कर्जनके दर्पमें इसी निर्माणकी चेतना है ?

और यह क्या है ? दर्प-दीप्त कर्जनके पैरों तले, ऊँचे चबूतरेके बायीं ओर लौहपटपर निर्मित यह किस भवनका चित्र है ?

ओह, यह तो ताजमहलका चित्र है – भारतीय स्थापत्यके गौरव, विश्वके एक अनुपम आश्चर्य ताजमहलका !

हाँ, ताजमहलका, पर उसका यह चित्रांकन यहाँ क्यों किया गया है ? क्या केवल सौन्दर्य-वर्धनके लिए ? अपने प्रश्नमें, अपनी जिज्ञासामें मैं खो गया और तब मैंने फिर एक बार कर्जनकी आँखोंमें झाँका। दर्पसे दमकती उन आँखोंमें कुछ यों था – "हाँ, एक भोंदू भारतीयको यही समझना चाहिए !"

मेरे चैतन्यने व्यंग्यकी इस चुभनमें चारों ओर हाथ फैलाये, तो लगा कि मेरी उँगली कहीं बिजलीके नंगे तारसे छू गयी है – ओह कर्जनके दर्प-का रहस्य ताजमहलके इसी चित्रमें है !!!

बुद्धिने चौंककर पूछा, "क्या है वह रहस्य ?"

मेरा चेतन बिजलीके उस झनझनाते धक्केसे उबर अब बोधकी स्थिति-में था। बोधकी स्थिति, जहाँ रहस्य उत्प्रेक्षाकी, काव्य भाषा – मानो या जैसे – की झिलमिलमे आँख-मिचौनी नहीं खेलता, तथ्य और यथार्थकी स्पष्टतामे खुली धूप-सा खिल उठता है।

भारतकी आत्मामें, भारतीय जीवनमें एक बाँकपन है और बाँकपन बन्धनके विरुद्ध कब कैसा विद्रोह कर बैठे, इसे कोई नहीं जानता, तो अँगरेज राजनीतिके लिए आवश्यक हुआ कि आत्मगौरवका यह बाँकपन चारों ओरसे बिना जाने ऐसी चोटें खाये कि हहराकर ढह पड़े।

ताजमहल भारतकी विशिष्टता है और उसके आत्मगौरवको गुलामीके

अन्धकारमें भी एक दीप्ति देता है। यह दीप्ति उस बाँकपनको स्फुरणा देती है। तब बनाया गया यह विक्टोरिया मेमोरियल, जो ताजमहलके गौरवकी दीप्तिके दीपकको हाथकी झपकी-सी दिये-दिये कहता है :

कुछ तू ही नहीं है एक ताजमहल कि शरद्-पूर्णिमाकी चाँदनीमें सौन्दर्यका हीरा-सा चमके ! देख, मैं भी हूँ सफ़ेद संगमर्मरका ही एक महान् निर्माण; तेरेसे ऊँचा और विशाल !!

फिर तेरे भीतर है क्या? सिवाय दो क़ब्रोंके, जिनमें गड़े मुरदों-के दो रूखे कंकाल अपने अतीतको रोया करते हैं। इधर देख, मेरे भीतर है एकसे एक सुन्दर कलाकृतियोंका संग्रह। हुँः बड़ा आया है ताजमहलका बच्चा !!!

और मैं देख रहा हूँ, विक्टोरिया मेमोरियलके निर्माता लॉर्ड कर्जनके रोम-रोममें छाये तनावमें इसी ललकारका दर्प कसा हुआ है !

बुद्धि उचककर पूछती है, क्या कर्जन अपने लक्ष्यको पा सका ? क्या विक्टोरिया मेमोरियलसे ताजमहलकी दीप्तिका दीपक झपझपाया ?

प्रश्न उमड़ते रहे, पग आगे बढ़ते रहे। कर्जन और सिंहद्वारके बीच, एक ऊँचे मंचपर जमे सिंहासनपर आसीन है ये महारानी विक्टोरिया। उच्चता, महत्त्व और शालीनतासे वातावरण और मुद्रा इस तरह ओत-प्रोत कि मैं भूल गया हूँ कर्जनके दर्पको और विक्टोरियाको; बस मेरे मनके चारों ओर है एक वृद्धत्व और हाँ, एक ममतामय महान् मातृत्व।

माँ, प्रणाम !

स्वरहीन शब्दोंकी यह श्रद्धांजलि जैसे बिना दिये ही मैंने विक्टोरिया-को अर्पित कर दी। सच कहूँ, मुझसे अर्पित हो गयी।

मैं देख रहा हूँ, महारानी भौंचक जिज्ञासा और अवाक् आश्चर्यसे अभिभूत है – "अच्छा ! तुम मेरा सम्मान करते हो ?"

"हाँ, निश्चय ही; यह तो मेरे देशकी सभ्यता है माँ !"

कहते-कहते ही मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरे हृदयकी सरल ममता तरल हो, उनके अन्तर तक पहुँच गयी है।

मैं सुन रहा हूँ, उनके रुकते-झिझकते-से स्वर मुझ तक आ रहे हैं – "तब तो तुम्हें दुःख होगा कि मेरे वंशजोंका राज्य अब यहाँ नहीं रहा ?"

"माँ, वह तो एक अन्याय था और अन्यायके निवारणमें किसी न्यायवान्‌को भला दुःख क्यों हो ? फिर उस अन्यायका निवारण अपने हाथों कर आपके वंशजोंने तो विश्वके इतिहासमें यश कमाया है।" मैंने कहा।

"ठीक है तुम्हारी बात; विवशताको सफलतामें बदल देनेका वैसा उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।" वे बोलीं और उभर आ रहे अवसादके कोहरेको धकियातीं-सी नये प्रश्नमें उभरीं – "मेरा यह स्मारक तो शानदार है ?"

भारतका संस्कार है, बूढ़ोंकी बात रखना, तो मुँहने अनायास कहा – "हाँ" और हृदयके सारस्यमें 'आँ' का अनुनासिक उन तक तैर-सा गया, तो मुझ तक उचक आया उनका प्रश्न – "फिर इसे ताजमहल-जैसा महत्त्व क्यों नहीं मिला ?"

उफ़् !

मेरे कलेजेमें एक सुई-सी चुभ गयी – ओह, दर्पदीप्त कर्जनके पैरों तले, एक लौहपटपर उभरे ताजमहलके चित्र और विक्टोरियाके इस प्रश्नकी जीवन-डोर भीतर ही भीतर आपसमें गुँथी है !

चुभन पैनी थी, गहरी थी, तो मेरे स्वर आवेशका हलका-सा स्पर्श पा ही गये – "ताजमहल दो हृदयोंके प्रेमकी जोत है, दो भिन्न व्यक्तियोंकी अभिन्नताका प्रतीक, यह मेमोरियल यह आपका स्मारक कहाँ है महारानी ? यह तो एक सुनियोजित धूर्तताकी प्रदर्शनी है !"

आवेशका हलका स्पर्श गहरा हो गया – "ताजमहल बारह दिनमें बना हो या बारह वर्षोंमें, क्षण-क्षण उसके निर्माताकी भावना रही कि ऐसा बने यह ताज कि युग-युगों तक मेरी प्रियतमाकी आत्माको शान्ति

मिले। इसके विरुद्ध मेमोरियल बारह दिनमें बना हो या बारह वर्षोंमें, इसके निर्माताकी क्षण-क्षण यह भावना रही कि ऐसा बने यह मेमोरियल कि दासताके दिनों भी भारतीयोंके आत्मगौरवको दीप्ति देनेवाले उस ताजमहलका पानी उतर जाये – कमसे कम सौन्दर्य और स्थापत्यके क्षेत्रमें उसका एकत्व, उसकी मोनोपॅली तो टूट ही जाये !

महारानी, ताजमहल प्यारपगी ताजका स्मारक है, क्योंकि उसके लक्ष्यसे बना था – उसकी एक-एक ईट उसका ध्यान करके रखी गयी थी, पर मेमोरियलके निर्माण-लक्ष्यमें आप कहाँ हैं ? फिर कहाँका स्मारक और किसका स्मारक ? कहा नहीं मैंने कि यह तो सुनियोजित धूर्तताकी एक प्रदर्शनी है।

मुझे लगा कि निर्माण-धातुका कालापन विक्टोरियाके मानस तक सघन हो, चिपट गया है। यह दृश्य इतना दयनीय है कि देखा न जाये। इधर-उधर करनेको मैंने आँखें फेरीं, तो देखा – विक्टोरियाके दोनों ओर खड़े हैं दो बन्दूकधारी सिपाही, जिनमें एक की बन्दूक किसीने बलपूर्वक तोड़ दी है।

मेरे बायें हाथ है विशाल कैथोलिक चर्च। मैं सुन रहा हूँ यह चर्च कुछ कह रहा है। क्या कह रहा है यह चर्च ? मेरे अनुयायियोंकी विजय-यात्राका व्याकरण यह है कि पहले बाइबिल हाथमें लिये पादरी पहुँचे और तब कन्धोंपर बन्दूक ताने सिपाही। आज भारतमे हमारे सिपाहीकी बन्दूक टूट गयी है, पर मैं अपना काम अब भी किये जा रहा हूँ और लो सच बता दूँ तुम्हें, अब पादरी और सिपाही दोनोंका काम मेरे ही हाथोंमें है।

विचारोंसे मन इतना भर गया है कि कुछ नयी बात सुनने और सोचनेको जी नहीं चाहता, पर आँखें तो अपना काम कर ही रही हैं।

इसी सड़कपर बायें हाथ है वह एक ऊँचा स्टैच्यू – घोड़ेपर सवार किचनर। वाह, घोड़ेमें क्या लहरा है। अपना दायाँ पैर उठाये वह अबोल

हिनहिनाहटसे वातावरणको भर रहा है; जैसे अपने सवारसे कह रहा हो कि खड्ड हो या खाई, नदी हो या नाला, चिन्ता क्या है, तुम ज़रा लगाम ढीली तो करो, पर जो वाहनके कहे कूदे, वह क्या सवार ? सवार लगाम-को सधे हाथों साधे अपने लक्ष्यको देख रहा है।

किचनरके ठीक सामने घोड़ेपर सवार मिण्टो है। यह घोड़ा अपना दायाँ पैर आगे बढ़ाये, बढ़नेको उतावला है, पर मिण्टोकी सधी लगाममें ज़रा लरज़ा तो आये।

इसी सड़कपर ज़रा और आगे बायें हाथ है घोड़ेपर सवार राबर्ट्स। घोड़ा मुँह बाये पूरी तेजीमे और सवार दर्पसे जलता हुआ। इसके ठीक सामने अपने घोड़ेपर सवार लैन्सडाऊन, अपनी प्रभावशाली मुद्रामे और इसके नीचे एक छोटा स्टैच्यू, जिसमें दो बालक हाथ मिला रहे हैं।

मुझे याद आ गया पुराने युगका एक पुलिस कप्तान रॉजर्स। उसका एक खानसामा था मुसलमान और दूसरा हिन्दू। दोनों रूखे, दोनों लड़ाके—तुनकमिज़ाज; जब-तब आपसमें गुत्थम-गुत्था। कप्तान जब सुने कि वे जूझ रहे हैं, तो दौड़कर बाहर आये और दोनोंके कन्धे थपथपाकर कहे—"शाबास, तुम तुम एक, तो हम लन्दन !"

बालकोंके स्टैच्यू देखकर मै सोच रहा हूँ कि 'तुम-तुम' तो एक हुए नहीं पर 'हम' और उसके भाई-बन्धु लन्दन पहुँच ही गये। भारतकी स्वतन्त्रता इतिहासका कितना बड़ा चमत्कार है !

कल्पनाका विश्व भी कितना अद्भुत है ? मैं देख रहा हूँ किचनर, मिण्टो, राबर्ट्स और लैन्सडाऊन आकर विक्टोरियाके पास खड़े हो गये है। अरे, यही नहीं, ये तो देश-भरसे अंगरेज़ोंके प्रमुख स्टैच्यू यहीं आ गये हैं—कई किङ्ग, कई गवर्नर जनरल, कई कमाण्डर इन-चीफ़ और कई दूसरे योद्धा—एकसे एक शानदार और बाँके !

उन्हें देखकर मुझे एक बात सूझ आयी और मैं उनसे कह उठा—

आपकी जातिका शासन अब इस देशमें नहीं रहा और हम स्वतन्त्र हैं कि जो चाहें करें, पर आपको देखकर मुझे अपने देशकी सहिष्णुता और उदारतापर गर्व हो रहा है कि आज भी आप लोग अपने-अपने स्थानपर अपने पूर्व गौरव और गर्वकी मुद्राओंमें ज्योंके-त्यों सम्मानपूर्वक खड़े हैं।

मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी बात सुनकर वे सब गहरे विषादमें डूब गये हैं और तब सुनाई पड़ी निश्वासोंमें काँपती-डूबती-सी यह आवाज़—"ठीक है, हम आज भी अपने-अपने स्थानपर अपने पूर्व गौरव और गर्वकी मुद्राओंमें ज्योंके-त्यों सम्मानपूर्वक खड़े हैं, पर भाग्यकी इस विडम्बनाको हम क्या करें कि पहले हम अपने आत्मगौरव और राष्ट्रीय गर्वके चित्र थे और अब हम अपने आत्मगौरव और राष्ट्रीय गर्वके व्यंग्य-चित्र हैं!"

यह शायद बूढ़े एडवर्डकी आवाज़ थी!

राबर्ट नर्सिङ् होममें !

कल तक जिनका अतिथि था, आज उनका परिचारक हो गया; क्योंकि मेरी आतिथेया अचानक रोगकी लपेटमें आ गयीं और उन्हें इन्दौरके राबर्ट नर्सिङ् होममें लाना पड़ा ।

यह है सितम्बर १९५१ !

रोगका आघात पूरे वेगमें, परिणाम कँपकँपाता और वातावरण चिन्ता-से घिरा-घेरा कि हम सब सुस्त । तभी मैंने चौंककर देखा कि अपने विशिष्ट धवल वेषसे आच्छादित एक नारी कमरेमें आ गयी है ।

देह उनकी कोई पैंतालीस वसन्त देखी, वर्ण हिम-श्वेत, पर अरुणोदयकी रेखाओंसे अनुरंजित, क़द लम्बा और सुता-सधा ।

"लम्बा मुँह अच्छा नहीं लगता; बीमारके पास लम्बा मुँह नहीं ।" आते ही उन्होंने कहा । भाषा सुथरी, उच्चारण साफ़ और स्वर आदेशका, पर आदेश न अधिनायकका, न अधिकारीका, पूर्णतया माँका, जिसका आरम्भ होता है शिकंजेसे और अन्त गोदमे ।

हाँ, वह माँ ही थी : होमकी अध्यक्षा मदर टेरेज़ा, जन्मभूमि जिसकी फ़्रान्स और कर्मभूमि भारत । उभरती तरुणाईसे उम्रके इस ढलाव तक रोगियोंकी सेवामे लवलीन; यही काम, यही धाम, यही राग, यही चाव और बस यही यही !

उन्होंने रोगीके दोनों म्लान कपोल अपने चाँदनी-चर्चित हाथोंसे थपथपाये, तो उसके सूखे अधरोंपर चाँदीकी एक रेखा खिंच आयी और मुझे लगा कि वातावरणका बोझ कुछ कम हो गया ।

तभी एक खटाक और हमारा डॉक्टर कमरेके भीतर। मदरने उसे देखते ही कहा, "डॉक्टर तुम्हारा बीमार हँस रहा है।"

"हाँ, मदर! तुम हँसी बिखेरती जो हो।" डॉक्टरने अपने जाने कितने अनुभव यों एक ही वाक्यमें गूँथ दिये।

मैंने भावनासे अभिभूत हो सोचा – जो बिना प्रसव किये ही माँ बन सकती है, वही तीस रुपये मासिकके योग-क्षेमपर बीस वर्षके दिन और रात सेवामें लगा सकती है और वही पीड़ितोंके तड़पते जीवनमें हँसी बिखेर सकती है।

तीसरे पहरका समय, थर्मामीटर हाथमें लिये यह आयी मदर टेरेज़ा और उनके साथ एक नवयुवती, उसी विशिष्ट धवल वेषमें। गौर और आकर्षक। हाँ, गौर और आकर्षक, पर उसके स्वरूपका चित्रण करनेमे ये दोनों ही शब्द असफल। यों कहकर उसके आस-पास आ पाऊँगा कि शायद चाँदनीको दूधमें घोलकर ब्रह्माने उसका निर्माण किया हो। रूप और स्वरूपका एक दैवी साँचा-सी वह लड़की। नाम उसका क्रिस्ट हैल्ड और जन्मभूमि जर्मनी।

फ़्रान्सकी पुत्री मदर टेरेज़ा और जर्मनीकी दुहिता क्रिस्ट हैल्ड एक साथ, एक रूप, एक ध्येय, एक रस।

"तुम्हारा देश महान् है, जो युद्धके देवता हिटलरको भी जन्म दे सकता है और तुम्हारे-जैसी सेवाशील बालिकाको भी।" मैंने उससे कहा, तो दर्पसे दीप्त हो वह स्टैच्यू हो गयी और अपना दाहिना पैर पृथ्वीपर वेगसे ठोककर बोली – "यस-यस।"

वह दूसरे कमरेमें चली गयी, तो मैंने मदर टेरेज़ाको टटोला, "आप इस जर्मन लड़कीके साथ प्यारसे रहती हैं?"

बोलीं, "हाँ, वह भी ईश्वरके लिए काम करती है और मैं भी, फिर प्यार क्यों न हो?" मैंने नश्तर चुभाया – "पर फ़्रान्सको हिटलरने पद-दलित किया था, यह आप कैसे भूल सकती हैं?"

नश्तर तेज़ था, चुभन गहरी, पर मदरका कलेजा उनसे अछूता रहा। बोलीं, "हिटलर बुरा था, उसने लड़ाई छेड़ी, पर उससे इस लड़कीका घर भी ढह गया और मेरा भी; हम दोनों एक।"

'हम दोनों एक' मदर टेरेज़ाने झममें इतने गहरे डूबकर कहा कि जैसे मैं उनसे उनकी लड़कीको छीन रहा था और उन्होंने पहले ही दाँवमें मुझे चारों खाने दे मारा।

मदर चली गयी, मैं सोचता रहा : मनुष्य-मनुष्यके बीच मनुष्यने ही कितनी दीवारें खड़ी की है – ऊँची दीवारें, मज़बूत फ़ौलादी दीवारें, भूगोलकी दीवारें, धर्म-विश्वासकी दीवारें, जाति-वर्णकी दीवारें, कितनी मनहूस, कितनी नगण्य, पर कितनी अजेय !!

क्रिस्ट हैल्डके पिता जर्मनीमें एक कॉलेजके प्रिन्सिपल हैं और उसने अभी पाँच वर्षोंके लिए ही सेवाका व्रत लिया है।

रोगिणीके गहरे काले बाल देखकर उसने कहा, "तुम्हारे काले बाल मेरे पिताके हैं।" कहा कि वह स्मृतियोंमें खो-सी गयी।

मुझे लगा कि मैं ही क्रिस्ट हैल्ड हूँ। अपने माता-पितासे हज़ारों मील दूर, एक अजनबी देशमें, अकेली, खोयी, छली-सी और मेरी आँखें भर आयीं।

लड़की मेरे आँसुओंमें डूब-डूब गयी और किनारा पानेको उसने जल्दीसे उन्हें अपने रूमालसे पोंछ दिया। उसकी सदा हँसती आँखें सम हो, नरम हो आयीं, पर ज़रा भी नम नहीं। मैंने पूछा, "घरसे चलते समय रोयी थीं तुम?" उसका भोला उत्तर था, "ना, माँ बहुत रोयी थी।"

फटी आँखों कुछ देर मैं उसे देखता रहा, तब कुछ बिस्किट उसे भेंट किये। बोली, "धन्यवाद, थैंक यू, तांग शू।" वह अकसर हिन्दी-अँगरेज़ी-जर्मन भाषाओंके शब्द मिलाकर बोलती है।

हम सब हँस पड़े और वह हँसती-हँसती भाग गयी।

मदर टेरेज़ा बातोंकी मूडमें थीं। मैंने उनके हृदय-मानसमें चोर दरवाज़ेसे झाँका – "मदर, घरसे आनेके बाद फिर आप घर नहीं गयीं ? कभी मिलने-जुलने भी नहीं।" कान अपना काम कर चुके थे, वाणीको अपना काम करना था, पर मदरने उसकी राह मोड़ दी और तब मैंने सुनी यह कहानी :

कई वर्ष हुए फ़्रान्समें विश्व-भरके पूजा-ग्रहोंका एक सम्मेलन हुआ। भारतकी दो मदर भी प्रतिनिधि होकर उस सम्मेलनमें गयीं। वे फ़्रान्सकी ही थीं, उनके माता-पिता फ़्रान्समें ही थे। उन्हें पता था कि बरसों बाद हमारी पुत्रियाँ आ रही हैं।

दोनों माताएँ अपनी पुत्रियोंका स्वागत करने जहाज़पर आयीं, पर विचित्र बात यह हुई कि वे दोनों अपनी पुत्रियोंको पहचान न पायीं और आपसमें कहती रहीं कि तुम्हारी बेटी कौन-सी है। अन्तमें उनका नाम पूछा और तब गले मिलीं।

कहानी पूरी हुई, तो कई प्रश्न उठे, पर मदर टेरेज़ा उनके उठते-न-उठते भाग गयीं। निश्चय ही उन दोनों अनपहचानी पुत्रियोंमें-से एक वे स्वयं थीं।

बस इतना ही एक दिन मैं उनसे और कहला सका :

"घरसे बहुत चिट्ठी आती हैं तो मैं यहाँके किसी स्थानका फ़ोटो भेज देती हूँ।"

रोग पूरे उभारपर था, रोगीके लिए असह्य। मदर टेरेज़ाने कहा, "तुम्हारे लिए आज विनती करूँगी।" उनका चेहरा उस समय भक्तकी श्रद्धासे प्रोद्भासित हो उठा था।

रोगीने कहा, "कल भी करना मदर !"

मदरके स्वरमें मिश्री ही मिश्री, पर मिश्री कूजेकी थी जो मिठास तो तुरन्त देती है, पर घुलती तुरन्त नहीं और बलका प्रयोग हो तो मसूड़े तक छील देती है। बोली, "ना, कल उसके लिए करूँगी, जिसे सबसे अधिक

कष्ट होगा !" जैसे हज़ार वॉल्टका बल्ब मेरी आँखोंमें कौंध गया।

मैंने बहुतोंको रूपसे पाते देखा था, बहुतोंको धनसे और गुणोंसे भी बहुतोंको पाते देखा था, पर मानवताके आँगनमें समर्पण और प्राप्तिका यह अद्‌भुत सौम्य स्वरूप आज अपनी ही आँखों देखा कि कोई अपनी पीड़ासे किसीको पाये और किसीका उत्सर्ग सदा किसीकी पीड़ाके लिए ही सुरक्षित रहे।

ऊपरके बरामदेमें खड़े-खड़े मैंने एक जादूकी पुड़िया देखी – जीती-जागती जादूकी पुड़िया। आदमियोंको मक्खी बनानेवाला कामरूपका जादू नहीं, मक्खियोंको आदमी बनानेवाला जीवनका जादू – होमकी सबसे बुढ़िया मदर मार्गरेट।

क़द इतना नाटा कि उन्हें बड़ी गुड़िया कहा जा सके, पर उनकी चालमें ग़ज़बकी चुस्ती, क़दममें फुर्ती और व्यवहारमें मस्ती; हँसी उनकी यों कि मोतियोंको बोरी खुल पड़ी और काम यों कि मशीन मात माने, भारतमे चालीस वर्षोंसे सेवामें रसलीन जैसे और कुछ उन्हें जीवनमें अब जानना भी तो नहीं।

ऑपरेशनके लिए एक रोगी आया, ऐश-आरामसे पला जीवन। कहनेकी बेचारेको आदत, सहनेका उसे क्या पता, पर कष्ट क्या पात्रकी क्षमता देख कर आता है ? "मदर, मर जाऊँगा।" उसने विह्वल होकर कहा। वातावरण चीत्कारकी विह्वलतासे भर गया, पर बूढ़ी मदरकी हँसीके दीपकने झपकी तक नहीं खायी।

बोली, "कुछ नहीं, कुछ नहीं, आज है एवरीथिङ् (सब कुछ), कल समथिङ् (कुछ-कुछ) और बस तब नथिङ् (कुछ नहीं)। और वे इतने ज़ोरसे खिलखिलाकर हँसीं कि आस-पास कोई होता तो झेंप जाता।

एक रोगी उन्होंने देखा – चिन्ताके गर्तसे उठ-उभरती रोगिणी। ज़ोरसे चुटकियाँ बजाकर वे किलकीं – जि-उती, जि-उती। यह है उनका जी उठी, जी उठी।

यह अनुभव कितना चमत्कारी है कि यहाँ जो जितनी अधिक बूढ़ी है, वह उतनी ही अधिक उत्फुल्ल है, मुसकानमयी है। यह किस दीपककी जोत है ? जागरूक जीवनकी ? लक्ष्यदर्शी जीवनकी ! सेवा-निरत जीवनकी ! अपने विश्वासोंके साथ एकाग्र जीवनकी ! भाषाके भेद रहे है, रहेंगे भी, पर यह जोत विश्वकी सर्वोत्तम जोत है।

सिस्टर क्रिस्ट हैल्डका तबादला हो गया – अब वह धानीके भील-सेवा-केन्द्रमें काम करेगी। ओह, उस जंगली जीवनमें यह कर्पूरिका; पर कर्पूरिका तो अपने सौरभमें इतनी लीन है कि उसे स्वर्गके अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं, सूझता ही नहीं।

वह हम लोगोंको मिलने आयी – हँसती, खिलती, बिखरती और कुदकती। यहाँसे जानेका उसे विषाद नहीं; हाँ एक नयी जगह देखनेका चाव उसके रोम-रोममें, पर मुझे उसका जाना कचोट-सा रहा था। वह दूसरे रोगियोंसे मिलने चली गयी।

इधर-उधर आते-जाते वह दो-तीन बार कमरेके बाहरसे निकली, पर फिर एक बार भी उसने उधर नहीं झाँका। मैंने अपनेसे कहा, "कोई उसमें लाख उलझे, उसे किसीमे नहीं उलझना है।"

और तब सिस्टर क्रिस्ट हैल्डका, सच यह है कि सिस्टर-मदर-वर्गका निस्संग-निर्लिप्त-निर्द्वन्द्व जीवन पूरी तरह मेरे मानस-चक्षुओंमें समा गया और मैंने फिर आप-ही-आप कहा – सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड, हम भारतवासी गीताको कण्ठमें रखकर धनी हुए, पर तुम उसे जीवनमें ले कृतार्थ हुई।

तभी मेरे भीतर एक रोमांच उभर आया – हमारा समाज नारीको देवत्वसे जोड़कर जो निर्माण कर पाया, वह कला-प्रदर्शनी देवदासी होकर ही रह गया; न सिस्टर बन पाया, न मदर। हमने युग-दृष्टि भी पायी, तो हमारे चरण भिक्षुणी और अर्जिका तक पहुँच गये, और बस, और बस !

स्त्री पहले कामिनी है, तब रमणी, तब नारी और तब माँ, पर ये न कामिनी, न रमणी, न नारी, बस माँ और माँ ही माँ – जो देती है सब

कुछ और लेती नहीं कुछ भी। तभी तो इनके हाथमें यह निर्मलता है, इनके खुले सम्पर्कमें भी यह निश्छलता है कि कामनाका कीटाणु आँख नहीं खोल पाता।

हम डेढ़ सदी पश्चिमके सम्पर्कमें रहे और जो कुछ हमने पाया उसका पुल्लिग है साहब और स्त्रीलिंग है मेमसाहबा – न मदर, न फ़ादर ? तभी तो हमारी पूँजी रह गयी बाहरी उन्मुक्तता; साफ़ कहें, तो मर्यादा-हीनता और एक विशेष प्रकारकी रूप-सज्जा और हम ले न पाये आन्तरिक उन्मुक्तता, 'स्व' का स्वेच्छाशमन कर, सदा जागती पर-वृत्ति, लक्ष्य-दृष्टि, लक्ष्य-गति, न चुकनेवाले और न रुकनेवाले चरण।

और फिर ये मदर, ये सिस्टर, यह मिश्नरी भावना ! इस जीवन-व्यापी उत्सर्गका प्रेरणा केन्द्र क्या है ?

इस प्रेरणाका केन्द्र है – ईसा !

अचानक एक आँधी-सी मुझमें उठी और उसने मुझे झकझोर दिया – जब दूसरे महापुरुषोंकी प्रेरणा कुछ ही दिनोंमे मन्द पड़ गयी, तो ईसाके जीवनकी प्रेरणा हज़ारों वर्षोंके बाद भी इतनी सजीव कैसे है ? हमारे यहाँ विवेकानन्दने इस भावनाकी गहराईको अनुभव किया था और रामकृष्ण मिशनके रूपमे जगाया था।

अपने ढंगपर उन्होंने अपने साधकोंसे – राष्ट्रके तरुणोंसे पूछा था – मूर्तियोंके सामने घण्टियाँ ही टुनटुनाते रहोगे या जनताके जीवनमें जहाँ भगवान्‌की बाँसुरी बज रही है, जाओगे ?

मुझे लगा कि यह प्रश्न राष्ट्रके सारे वातावरणमें आज भी भर रहा है। साधनासिक्त वीणाके स्वरों-सा मधुर और मधुर।

एक दिनकी बात

ज्योतिने मुँह बनाकर कहा, "आज तो दे दीजिए कुछ हमें। उस दिन आठ आनेका आटा लाये थे, वह भी ख़त्म हो गया। अब क्या भूख हड़ताल करनी पड़ेगी यहाँ ?"

मनपर बड़ी चोट पड़ी। सान्त्वनाके स्वरमें मैंने कहा, "नहीं भाई, भूख हड़ताल क्यों करनी पड़ेगी। मैं अभी कुछ इन्तजाम करता हूँ।"

यह जून १९३४ की बात है। तब 'विकास' साप्ताहिकको निकलते लगभग एक साल हो गया था। बाबूजी (श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्मा, संचालक 'विकास'; वर्त्तमान सम्पादक – 'आलोक' नागपुर) किसी काममे बम्बई गये थे और कार्यालयमें मै अकेला ही था। ज्योति था हमारा चपरासी और उसे रुपयेकी ज़रूरत थी, पर मै हूँ विकास-सम्पादक कि मेरे पास एक कानी कौड़ी भी न थी।

बहुत सोचकर मैंने बिलोंकी क़िताब उठायी। कई विज्ञापन-दाताओंसे रुपया अभी आना था। यों ही मैं जोड़ गया। १५७) शेष थे, पर इन्हे मैं क्या करूं ? मुझे तो इस समय ५) चाहिए और ये १५७) किसी दिन आनेवाले थे ! मन ज़रा भारी हो गया। लेटकर सोचने लगा, क्या करूँ ?

अचानक ध्यान आया। बम्बई जाते समय बाबूजीने कहा था, "कचहरीसे कोर्ट नोटिसोंके २५) वसूल करने हैं, कर लेना। बिल मैं भेज चुका हूँ। मनमें सोयी आशा जाग उठी। उठा, दूसरी बिल-बुक उठाकर देखी। सचमुच २५) लेने थे। ५) कलक्टरीसे और २०) दीवानीसे। चेहरेपर प्रसन्नताकी एक रेख-सी खिच गयी। कपड़े पहने और कचहरी

चला। ताँगेके लिए पैसे न थे, पैदल पहुंचा, पर मनमें उल्लास था, शरीर-में स्फूर्ति – "लौटते समय जेबमें २५) होंगे। ठाठसे ताँगेमें बैठकर आऊँगा। सवारियाँ नहीं होंगी, तो पूरा ताँगा कर लूंगा, बात ही क्या है ?"

कलक्टरीके नाज़िर साहब बैठे काग़ज़ उलट रहे थे। मेरी बात उन्होंने सुनी और ५) मेरे हवाले किये। मैं दीवानी पहुंचा। यहांके नाजिर साहब बड़े क़ानूनी आदमी निकले। बोले, "माफ कीजिए पण्डितजी, हमारे यहाँ बाबूजीका नाम दर्ज है, इसलिए रुपया तो उन्हींके दस्तखतमें मिल सकता है।"

"मैं अभी कलक्टरीसे रुपये लाया हूँ। आप मुझे जानते ही है। बाबू-जी बम्बई गये है और उनके लौटनेका अभी कुछ पता नहीं।" मैंने कहा, तो बोले, "पण्डितजी, हरेक कचहरीके अपने क़ायदे है। मेरे लिए मजबूरी है, वरना फौरन आपके हुक्मकी तामील करता।"

मैंने कहा, "कोई उपाय बताइए कि मुझे रुपये मिल सकें।" बोले, "आप बाबूजीकी एक चिट्ठी मँगा दीजिए कि इन्हे रुपये दे दिये जाये, बस मैं तुरन्त आपको रुपये दे दूँगा।" बातको समाप्त करते हुए बोले, "और कोई सेवा बताइए।" भला मैं और क्या सेवा बताता। फिर भी मैं प्रसन्न ही था कि पाँच मेरी जेबमें थे। आते ही बारह आनेका तार बाबूजीको दिया, एक रुपया ज्योतिको और सवा तीन श्रीमतीजीको !

चौथे दिन कार्यालयमें बैठा लेख देख रहा था कि श्रीमतीजीकी आवाज़ कानोंमें पड़ी, "घरमें न आटा है, न लकड़ी। त्यौहारके रुपये लड़कीको प्रयाग भेजने हैं। लाओ कुछ रुपये दो।" जेबमें एक भी पैसा न था। झुँझलाई-सी आवाज़में मुँहसे निकला, "कल तो दिये ही थे रुपये। आज फिर सिरपर सवार हो।"

"कल क्यों, कभी आज ही दिये हों ! कई दिन हुए तीन रुपल्लियाँ

दी थीं, वे खर्च हो गयीं। जब रोज़ मेहमान आये रहते हैं, तो खर्च होगा ही।"

"अजी, खर्च तो होता है, पर कहीं रुपया हो भी!"

"नहीं हैं, तो रहने दो। कुछ मेरा ही पेट सबसे बड़ा थोड़े है।" तुनककर वे भीतर जाने लगीं। मैंने उन्हें सँभालते हुए कहा, "देखो, मैं डाककी इन्तज़ार कर रहा हूँ। बाबूजीकी चिट्ठी आ गयी, तो रुपये मिल ही जायेंगे। नहीं तो कोई और इन्तज़ाम करूँगा।"

तभी ज्योतिने डाक सामने रख दी। रोज़ पहले अखबारोंपर नज़र जाती थी, आज चिट्ठियाँ देखीं। बाबूजीका लिफ़ाफ़ा था। खोला, कचहरी-के नाम चिट्ठी थी। मैंने कहा, "लो, तुम झींक रही थीं। आ गया बाबूजीका खत। अब रुपया ही रुपया लो। ज़रा-सी देरमें प्राण छोड़ने लगती हो।"

अखबार देखकर कचहरी गया। आज आशाकी बात नहीं, विश्वास-का दिन था—खत दिखाते ही रुपया मिल जायेगा। नाज़िर साहब सदाकी भाँति बैठे कागज़ उलट रहे थे। खत देखकर बोले, "बस अब ठीक है। उस दिन पण्डितजी, आपको नागवार तो गुज़रा होगा, पर माफ़ कीजिए काम क़ायदेमें ही ठीक होता है।"

आशाके स्वरमें मैंने कहा, "नहीं जी, इसमें नागवारकी क्या बात; यह तो क़ायदेकी बात है।"

"हमारे लिए भी बड़ी मजबूरी है पण्डितजी!" कहकर नाज़िरजीने चिट्ठी फ़ाइलमें रख दी। उत्सुकतासे मैंने पूछा, "तो क्या कुछ देर इन्त-ज़ार करनी पड़ेगी?" बोले, "ना पण्डितजी, आज तो यह काम न हो सकेगा। इस समय जज साहब एक खूनके मुक़दमेमें मशगूल हैं। उठते वक़्त यह चिट्ठी पेश होगी और कलसे चार दिनकी छुट्टियाँ हैं, आप १४ तारीखको तशरीफ़ लायें।"

ज़मीन मुझे घूमती दिखाई दी और नाज़िर यमराज। उसे मेरी दशा-का भला क्या पता! खोया-सा अपने घर लौट आया। जो पथ जाते समय सम था, लौटते समय विषम हो गया था। यह संसार हमारी भावनाओंका ही तो रूप है!

घर पहुँचते ही देखा, श्रीमतीजी प्रतीक्षामें खड़ी किवाड़के पीछे झाँक रही हैं। मुझे यह बात आज कुछ अच्छी न लगी। रुपया लाऊँगा, तो दे ही दूँगा। इस तरह भूत बनकर पीछे पड़नेकी क्या ज़रूरत? भीतर पैर रखते ही सवालकी तोप मेरे सामने थी, "ले आये रुपये?" मेरे सारे शरीरमें आग लग गयी। न मेरे स्वास्थ्यकी चिन्ता, न परेशानीकी। मरता-मरता अभी आकर खड़ा भी नहीं हुआ कि वही रुपयेका सवाल। सहृदयताका तो इस दुनियामें जैसे दिवाला निकल गया है।

कर्कश स्वरमें मेरे मुँहसे निकला, "तुम्हें सिवाय रुपयेके और भी कुछ पता है। जब देखो रुपया ही रुपया चिल्लाती रहती है बेवक़ूफ़!" वह बेचारी अपना-सा मुँह लेकर भीतर चली गयी। मैं बाहर कार्यालयमें जा लेटा। निराशासे मेरा मन श्रान्त हो रहा था और सब प्रकारकी श्रान्तियोंका उपसंहार नींद है।

मुझे अभी झपकी आयी ही थी कि किसीके पैरोंकी आहटसे मैं चौंक उठा। मेरे एक मेहमान सामने खड़े थे। इस समय उनका आना मुझे बहुत बुरा लगा, पर बुरेको भला कह सकना ही तो सभ्यता है। कहना पड़ा, "आइए, बैठिए, कहिए आपको यहाँ कोई कष्ट तो नहीं हुआ?"

दाँत दिखाकर बोले, "अजी वाह, आपके राजमे और कष्ट? धर्मात्माओंके घरमें तो सदा स्वर्ग रहता है।"

मनने कहा, "जी हाँ, जीते जी ही स्वर्गका मज़ा आ रहा है।" जीभने कहा, "यह सब आप-जैसे बुज़ुर्गोंकी कृपा है।"

"नहीं भाई, मुँहपर कहनेकी तो बड़ाई समझी जाती है, पर हम तो घर भी कहा करते हैं कि उन्होंने ख़ूब नाम कमाया है। ओ हो, जब तुम

जेलसे आये, मैं यहीं था। दसों हज़ार आदमी रेलपर इकट्ठे हो गये थे और पब्लिकने फूलोंसे तुम्हारी गाड़ी भर दी थी।"

सभ्यताने मुझसे कहलवाया, "यह सब मित्रोंका प्रेम है जी, मैं भला किस लायक़ हूँ!"

"यह सब आपकी नम्रता है। बड़े आदमी अपने मुँहसे अपनी तारीफ़ नहीं किया करते। यह काम तो टुंचोंका है। आपकी तारीफ़ तो दुनिया करती है।"

मैंने समझ लिया कि इस सभ्यताके सहारे ये हारनेवाले नही है। तब बात बदलनेके भावसे कहा, "अच्छा यह बताइए कि आपकी और क्या सेवा की जाये?" हाथ जोड़कर बोले, "तुम्हारे इस सत्संगसे बड़ी खुशी हुई।" कोई भूली बात याद करते हुए-से बोले, "हाँ, आज रातको जा रहा हूँ मैं। घरपर 'वह' अकेली है।"

मनमे प्रश्न उठा, "तो घरपर वह अकेली न होती, तो शायद आप दो-चार साल टिकते।" पर मुँहमे निकला, "अजी ठहरें भी अभी, चले जाइएगा।" ज़रा घिघियाकर बोले, "फिर दर्शन करूँगा। हाँ, क्या बताऊँ, चलते समय कोट तो बदल लिया, पर बटुवा लेना भूल गया। मुझे चलते समय दो रुपयेकी ज़रूरत पड़ेगी।"

मेरा जी भुन गया। यह इतनी लम्बी भूमिका कम्बख़्त इसलिए बाँध रहा था! सँभलकर मैंने कहा, "नहीं जी इसमें संकोचकी क्या बात? यह तो आपका घर है।"

कहनेको तो यह कह दिया, पर भीतरसे प्राण सूख गये। अभी कल-की रोटियोंका प्रबन्ध तो हुआ ही नहीं, इस भूतकी बलिका प्रबन्ध कैसे करूँगा। चिन्तासे दिमाग़ भिन्ना उठा। वे दाँत दिखाते हुए चले गये। मै क्षण-क्षण जीने-मरने लगा।

भ्रम सत्य बनकर उदय हुआ, उस दिन शायद पेटीमें मैंने एक नोट

रखा था। पेटी देखी, नोट नहीं था। होता ही कहाँसे, पर बैककी चैक-बुक पड़ी थी। मैं बैकके बारेमें कुछ भी न जानता था। झपटा हुआ बैंक पहुँचा। "क्यों साहब, 'विकास'के हिसाबमें-से मुझे कुछ रुपया मिल सकता है?" यह मेरा प्रश्न था। "जी नहीं रुपया पत्रका है और आप उसके सम्पादक है, पर नामसे बाबूजीके है, इसलिए रुपया उन्हींके दस्तख़तोंसे निकल सकता है।" यह बाबूका उत्तर था। लौट आया, पर मनमें शान्ति कहाँ?

ठीक दो बजे है और रातमें आठ बजे मेहमानजी तशरीफ़ ले जायेंगे। दो रुपये! कहाँसे दूँगा उन्हें? कलकी रोटीका प्रबन्ध नहीं, पर वह तो अपनी बात है। एक-दो दिन भूखा भी रहा जा सकता है, पर ये दो रुपये? इनका मैं क्या करूं?

तर्कने सहारा दिया; इसमें परेशानीकी क्या बात है। कह देना अलमारीकी ताली नहीं मिलती, कल चले जाइएगा। मन कुछ हलका हुआ। मै यों ही घबरा गया। मुझे यह ज़रा-सी बात न सूझी और दुनिया-भरके कुलाबे मिला गया। मैंने एक ठण्डी साँस ली, पर दूसरे ही क्षण एक स्मृतिने दिमाग़को हिला दिया। तुम रुपये न दोगे, वे महाशय यहीं ठहर जायेंगे, पर यहाँ खायेंगे क्या? सारी शान मिट्टीमें मिल जायेगी। इन्हे साफ़ जवाब दे दूं, पर फल तो उसका भी वही है। मैं रो पड़ा। जहाँ 'फ़ायर ब्रिग्रेड' की पहुँच नहीं, वहाँ आँसूकी दो बूँदें काम कर जाती है। मन कुछ हलका हुआ। मैं उठकर कमरेमें घूमने लगा। सामने दीवार-पर एक सम्पन्न मित्रका फ़ोटो लगा था। इनसे पाँच रुपये क्यों न माँग लूं? संकोच सामने आया, पर इसमें संकोचकी क्या बात? १४ तारीखको उनके रुपये वापस कर दूँगा। साहसने सहारा दिया, विवशताने प्रोत्साहन। चिट्ठी लिखकर रतनको दी। मनका भार हलका हुआ। बड़ी मुश्किलसे यह बला टली। मैं तो घबरा ही गया था। अब रतन पाँच लायेगा। दो

तो इन महाराजको दूँगा और तीन श्रीमतीजीको। परसोंको १४ है ही। २०) रुपये आयेंगे, ५) फ़ौरन उनके भेज दूँगा। संसारमें आदमीसे आदमीको दस दफ़ा काम पड़ता है।

रतन अब आ ही रहा होगा। साइकिलकी घण्टी बजी, लो वह आ गया। बड़ा फुर्तीला है लड़का, मिनिटोंमें काम करता है, पर इसमें देरीकी बात ही क्या थी। गया, रुपये लिये और चला आया। रतनने एक लिफ़ाफ़ा मुझे दिया। लिफ़ाफ़ा! अरे रुपये कहाँ हैं? "कैसे रुपये?" ध्यान आया – मैं अधीरतामें कितना उतावला हो गया हूँ। भला, वे पाँच रुपये हाथमें देते, लिफ़ाफ़ेमें नोट भेजा होगा। यह है बड़प्पनकी बात। बड़े घरोंके लड़के भी बड़े ही होते हैं और फिर भैया तो एक आदर्श युवक हैं। कृतज्ञताके भावसे मैंने लिफ़ाफ़ा खोला, पर इसमें नोट कहाँ हैं? यह तो केवल एक पत्र है। क्या रुपये नहीं दिये? यह अविश्वास! इन रईसों-में मनुष्यता तो है ही नहीं। पत्रमें लिखा है, "मेरी स्थिति तो आप जानते ही हैं और स्टेट एकाउण्टमें इस समय पाँच आने है।" भगवान् करें, यह भी न रहें।

तो फिर? अरे जाने भी दो। इस तरह चिन्तामें तो हार्ट-फेल हो सकता है। नहीं हैं, तो न सही। मैं रुपयोंके लिए मर थोड़े ही जाऊँगा। घड़ीमें तीन बजे और महाशयजीकी छाया मेरे सामने आकर खड़ी हो गयी। "लाओ दो रुपये!" पाँच घण्टे बाद यह स्थिति आनेवाली है। इसे कैसे टालूँ मेरे भगवान्! कहीं चला जाऊँ। पीछे बेचारे रो-झींककर चले जायेंगे। बादमे क्षमा-प्रार्थनाकी एक चिट्ठी लिख दूँगा। यही ठीक है, पर कहाँ चला जाऊँ? बिना पैसेकी यात्राका उदाहरण है तो सामने। फिर मैं कहीं चला भी गया और ये महाशय जम गये यहीं, तो श्रीमती-जी क्या करेंगी? इस युगमें तो तारा बननेका भी धर्म नहीं है। फिर मैं क्या करूँ? घबरानेसे तो अक़्ल और भी बेठिकाने हो जाती है। शान्तिसे सोचूँ। अभी पाँच घण्टे हैं और कुल दो रुपयेकी बात। इतना बड़ा शहर

है, क्या मुझे दो रुपये भी नहीं मिल सकते ! अच्छा तो किससे प्रार्थना करूँ ? रणजीत बाबू ! अजी वे बड़े मुरदे हैं । याद आ गया, बाबू कृष्ण-लालसे मँगाये लेता हूँ, पर क्या कहेंगे वे कि इनके पास पाँच रुपये भी नहीं ! फिर अपने सिरसे इस भूतको कैसे टालूँ ? वाह, ख़ूब याद आया ।

"अरे रतन, ले यह ख़त ज़रा पण्डितजीके पास ले जा ।" रतन चला गया । बचपनके साथी हैं । साथ खेले, साथ पढ़े और राष्ट्रीय आन्दोलनमें साथ ही जेल गये । उन्हें तो आज अभिमान होगा कि मेरे मित्रने मुझे निःसंकोच याद किया । बड़े भावुक हैं । साथमें एक पत्र अवश्य लिखेंगे । सम्भव है उसमें कोई पद्य लिख मारें । ख़ूब लिखते हैं । यहाँका वातावरण साहित्यिक नहीं, नहीं तो अबतक उनकी रचनाएँ कभीकी रंग ले आतीं पर अगर वे घरपर न हों ! कामदार आदमी हैं । हज़ार जगह याद रहती है ऐसे आदमियोंकी । तब तो बड़ी परेशानी होगी । रतनसे यह भी न कह दिया कि घर पूछ ले कि कहाँ गये है और वहीं चला जाये । यह बड़ी ग़लती हुई । परेशानीमें सचमुच अक़्ल मारी जाती है । वैसे एक तरहसे यह न कहना ही अच्छा हुआ । चार आदमियोंमें बैठे हुए वे क्या सोचते, बड़ा असभ्य आदमी है !

साढ़े तीन बज गये । दाँत बाहरको निकाले एक मनुष्य, दीनता और श्रद्धाकी मुद्रा और दुर्वासाके अभिशाप-सी वही उक्ति – "लाओ भाई, वे दो रुपये दे दो । गाड़ीका समय हो गया । अब जा रहा हूँ, फिर दर्शन करूँगा ।" सखियोंकी प्रार्थनापर दुर्वासा भी पिघल गये थे और अभिशाप-को उन्होंने सरल कर दिया था, पर यहाँ पसीजनेकी गुंजाइश नहीं – "लाओ दो रुपये या आज ठहरूँ ?" मैं क्या चुनाव करूँ ? 'कुआँ और खाई' की उपमा भी नहीं घटती । उसके पैरोंके नीचे तो साफ़ ज़मीन होगी । वह बीचमें अपनी जगह खड़ा होकर प्रतीक्षा तो कर सकता होगा, पर मैं कहाँ खड़ा हूँ ? घड़ी टिक-टिककर समयके सरकनेकी सूचना दे

रही है। यह लो, सुई चारके पास पहुँच रही है। कहीं घड़ी तेज़ तो नहीं है, पर होगी भी तो कितनी, दस मिनिट, बीस मिनिट, आध घण्टा। फिर इससे मुझे क्या सन्तोष !

मैं कितना मूर्ख हूँ, चिन्तामें घुला जा रहा हूँ। पण्डितजी क्या इनकार कर देंगे। वे कोई रईस नहीं हैं, जो हृदयहीन हों। और फिर बनिया बनिया, ब्राह्मण ब्राह्मण। आर्यसमाज कितने ही लैक्चर दे, जन्मके संस्कार कहीं जा सकते हैं ? रतन अभीतक नहीं आया। सम्भव है कहीं गये हों या श्रीमतीजी न हों और ताली उनके पास हो। हिन्दुस्तानी औरतोंको भी ताली गलेमें बाँधे रखनेकी एक बीमारी है। अरे, एक खूँटी नियत है या ताक, ताली वहाँ रखी है, जिसे जरूरत हो, ले ले, पर नहीं, ताली जबतक गलेमे न बाँधी जाये, चैन ही नहीं पड़ती ! तागा रसोइयेके जनेऊ-की तरह गन्दा और एक बदसूरत-सी तालो, पर वह इनके लिए सौभाग्य-चिह्न से भी अधिक प्रिय है।। मूर्ख है और क्या ?

यह भी सम्भव है कि रुपये न देनेपर ही अड़ रही हों – "रोज तुम्हारे यार-दोस्त ही खड़े रहते हैं। पाँच-सात रुपये पड़े हैं, उन्हे भी दे दो और हो जाओ फ़क़ीर।" रुपयेका इस क़दर मोह है कि हद नहीं। देशका दुर्भाग्य है कि उसका आधा भाग एक दम बुद्धू है।

आज यह घड़ी फूट क्यों नहीं जाती ! कम्बख़्त दौड़ी जा रही है, जैसे रेलमें महाशयजोकी जगह इसे ही बैठना हो। अभी देखा, तो साढ़े तीन बजे थे, यह चार भी बज गये। इस घड़ीको बेच क्यों न दूँ। शैतानने परेशान कर दिया आज। इसका भी पाप कट जायेगा और मेरा भी, पर घड़ी तो दफ़्तरकी है। बाबूजी आकर क्या कहेंगे। तो और क्या बेच दूँ ? मेरे पास एक अँगूठी थी, उसे मुन्नीने खो दिया, पर मुन्नी बेचारीका क्या दोष ? उसे वह दी ही क्यों गयी ? वह तो बालक है, उसे चीज़की क़ीमतका क्या पता ? बड़ी लापरवाह औरत है। इस सारे झंझटसे बच जाता। जाता और चुपके-से बेच आता। चीज़ और है ही किस वक़्तके

लिए ? पासमें चीज़ होते, परेशान होना मूर्खता है, पर जब वह है ही नहीं, तो उसपर विचार करनेसे लाभ ?

अच्छा, कोई पुस्तक क्यों न बेच दूँ ? अलमारी भरी पड़ी है। तीन-चार बेच दूँ, तो ५) मिल जायेंगे। उठकर सब पुस्तकें उलटी-पलटीं। सबपर 'समालोचनार्थ' लिखा है या 'सप्रेम भेंट'! भला, हमारे यहाँ पुस्तकें भेजी ही जाती हैं आलोचनाके लिए। मूर्ख हैं कम्बख़्त खुद और समझते हैं सम्पादकोंको! कईने तो 'समालोचनार्थ' की मुहरें बनवा रखी हैं, जैसे यह भी कोई फ़ैशन हो। 'सप्रेम भेंट'! यह क्या है जी! भला 'शत्रुतार्थ' अपने मित्रोंको कौन अपनी पुस्तक भेंट करेगा! तो ये सब पुस्तकें तो बेकार हैं। इन्हें बेचने जाना अपनी पगड़ी बाज़ारमें अपने हाथों उछालना है। फिर क्या करूँ ? बड़ी आफ़तमें जान आयी आज! घण्टी बजी, लो रतन आ गया। मैं भी आज सनकी हो गया हूँ। रतन वहाँसे लौटा नहीं और मैंने कई नक़्शे बना-बिगाड़ भी दिये। मनुष्यका यह दिमाग भी क्या बला है!

रतनने परचा मेरे हाथमें दिया। बस सिर्फ़ परचा ही! चढ़ गया उन्हें भी बुखार – "बन्धु! इस समय व्यस्त हूँ। घर श्रीमतीजीसे पूछकर कुछ उत्तर दे सकता हूँ।" यह व्यस्तता अच्छी रही। किससे आशा की जाये। मित्रता तो जैसे समुद्रमें डूब गयी। देखनेमें कुन्दन····। बाबू कुन्दन सिंह वकीलसे ५) क्यों न मँगा लूँ ? बड़े सहृदय हैं। जहाँ मिलते हैं, हरे हो जाते हैं। सदैव मेरी देश-सेवाओंकी प्रशंसा किया करते हैं। अँगरेज़ी-शिक्षितोंमें ऐसी सादगी विरल है। यह नाम पहले क्यों न याद आया।

"रतन, ले इस ख़तका जवाब तो ले-आ ज़रा।" स्वरमें मेरे उल्लास था, उरमें उमंग। आखिरी वक़्तमें ख़ूब नाम याद आया। घर पास ही था, रतन झट लौट आया। यह है सज्जनता, फ़िज़ूल मग़ज़पच्चीसे क्या फ़ायदा। कामकी दो बातें कीं और अलग। आजकल बहुत कम लोगोंमें

यह बात है। रतन खुश होता आ रहा है। दिन-भरकी मेहनत वसूल हो गयी बेचारेकी। आज इसे जलेबी खिलाऊँगा। एक रुपया भुन जायेगा और दो भूतनाथकी भेंट! बाक़ीके लिए श्रीमतीजी हैं ही। प्रोग्राम पूरा हुआ। चलो जान बची, किस चक्करपर चढ़ गया था आज।

"बाबूजी लेट रहे थे।" रतनने प्रसन्नतासे कहा। कचहरीसे आये होंगे अभी। थक जाते हैं बेचारे। अनपढ़ लोग समझते हैं कि ये शहरके बाबू दोनों समय मुफ़्तकी तोड़ते हैं। इन भोंदुओंको भला क्या पता कि एक ही बहसमें नस-नसका कचूमर निकल जाता है।

"उन्होंने कहा है....." मेरा माथा ठनका "कहा है" क्या मतलब? क्या रुपये नहीं दिये? ".....कि इस समय मुन्शीजी नहीं हैं, वे आ जाये, तो रुपये मैं फ़ौरन भेज दूँगा।" मुन्शीजी हैं या ख़ज़ांची? मुझे किसी मुक़दमेकी मिस्ल थोड़े ही देखनी है, जो मुन्शीजीके बस्तेमें हो। भला इतना बड़ा वकील, उसके घरमें पाँच रुपये नहीं। अगर उसके लड़केको हैजा हो जाये, तो क्या मुन्शीजी ही आकर डॉक्टर बुलाएँगे। कैसे मनुष्य हैं ये लोग। झूठ बोलते-बोलते झूठ इनकी आत्मामें रम गया है। क्या पुट दी है पट्ठेने! लोगोंको लड़ाते-लड़ाते इन वकीलोंका हृदय पत्थर हो जाता है और मक्कारी तो इनकी अन्नपूर्णा ही है। ऊपरसे देखो तो शिष्टाचारके पुतले पर भीतरसे पूरे पशु। भगवान् दुश्मनको भी न फँसाये इनके चक्कर-में! ठीक है दुश्मनको भी न फँसाये, पर मैं तो फँस रहा हूँ। मैं कैसे निकलूँ इस चक्करसे।

यह लो, साढ़े पाँच भी बज गये। इस घड़ीको बन्द कर दूँ, तो कुछ देर दिमाग़को चैन मिले। लो यह देखो, इस घड़ीमें, पटककर तोड़ डालने-के सिवा इसे बन्द करनेका कोई तरीक़ा ही नहीं रखा। अलार्मपर तो रिपीट, कण्टीन्यू और साइलेण्टके तीन-तीन बिल्ले चिपका दिये, पर घड़ीको बन्द करनेकी बात ही कारीगरके दिमाग़में नहीं आयी। जैसे इसे बन्द करनेकी कभी किसीको ज़रूरत ही न पड़ेगी। अरे, सौ बातें हैं। आदमी

बीमार है। टिक-टिक बुरी लगती है। लगा करे। हो जाये वह परेशान, पर घड़ी बन्द नहीं हो सकती।

ज़्यादा बुरा लगे, तो उठाकर बाहर बरामदेमें रख दो। चोर ले जाये, घड़ी बनानेवालेकी बलासे। उसकी तो एक और बिक जायेगी, पर चोर ही कैसे ले जाये? रास्ते-भर टिक-टिक करके वह खुफ़िया पुलिसका काम करती रहेगी। घड़ी चुप हो, तो आदमी उसे अपनी चादरमें ही लपेट ले। किसीको क्या पता, कोई क्या लिये जा रहा है। हर चौकपर सिपाही खड़ा रहता है, पर खड़ा रहे। दुनिया अपना-अपना सामान लिये जा रही है। यही क्या कोई नयी बात है? उसे क्या पता, चादरमें क्या है? होगा कोई गोभीका फूल और लाया होगा यह बेचारा अपने खेतसे। पुलिस ठेकेदार है दुनियाकी, पर घड़ी, बोल जो रही है। चोरको भी चौकन्ना होकर चलना पड़ता है और इधर-उधर आँख फेरना ही चोरकी मौत है। सिपाहीको फ़ौरन शक हो जाता है – "क्या लिये जाता है बे, यह रातमें!" एक कड़कदार आवाज़ और चोरकी होश गुम। 'पी····ई ई····ई····' एक लम्बी विसिल और चोर गिरफ़्तार। चलो भाई जेलखाना।

जेलखाना पूरा नरक है। मै तो आजकी ही लड़ाईमे खूब देख आया हूँ, पूरा नरक है। मनुष्य अपने भुलैया स्वभावके कारण वहाँ भी हँसता है, गाता है, पर यह तो मनुष्यके स्वभावकी एक विशेषता है। और विशेषता न हो, तो वह क्या करे। रो-रोकर मर जाये बेचारा! वहाँ धीरज दिलानेवाली माँ थोड़े ही बैठी है, जो चुमकार कर रोटी खिला देगी। रामका नाम लो, सहृदयताका तो वहाँके अधिकारियोंमें नाम नहीं। दो पैरके जानवर समझिए आप उन्हें। क़ैदियोंमे ऐसे भी हैं, जो अपनी रोटी दूसरेको दे दें, पर क़ैदी क़ैदी हैं, अफ़सर अफ़सर। मेरा बस चले, तो एक महीनेके लिए क़ैदियोंको अफ़सर और अफ़सरोंको क़ैदी बना दूँ। पट्ठोंकी नानी मर जाये और तब जानें कि क़ैद किसे कहते हैं?

लोग कहते हैं विज्ञान बड़ी उन्नति कर रहा है। अब कोई पूछे

उनसे कि विज्ञानने क्या उन्नति की कि घड़ी तो बनाकर रख दी, पर वह सिर्फ़ चल सकती है, बन्द हो ही नहीं सकती ! अभिमन्युकी तरह व्यूहमें घुस तो जाओ तुम और निकालेगी मौत ! सूझ नहीं है कम्बख्तोंमें और क्या ? भला घड़ी बन्द हो सकती, तो यह क्यों पकड़ा जाता बेचारा। "वह चोर था और उसका पकड़ा जाना ही ठीक है।" हाँ साहब, वह चोर था और उसका पकड़ा जाना ही ठीक है, पर उसे चोर बनाया किसने? किसी दिन वह भी भला आदमी होगा, ज़रूर होगा जी, पर आज वह चोर है। इसका उत्तरदायित्व किसपर है ? इसका उत्तरदायित्व समाजकी उस व्यवस्थापर है, जिसने उसे चोरीके लिए मजबूर किया। दुनियामे कोई आदमी खुशीसे चोर नहीं बनना चाहता। चोरी राजनीति-की लौंडरी नहीं और न रायबहादुरीका ख़िताब है कि उसके लिए कोई उत्कण्ठित हो। सारे समाजका धन चूसकर कुछ लोग धनपति बन बैठे है। मेरी रोटी तुम हड़प जाओ। अब मैं उसे माँगूं, तो भिखारी और ले लूं, तो चोर। धर्मशास्त्रने घोषणा की कि चोर दण्डनीय है और न्यायके नामपर जेलखाने खुले। न्याय क्या अन्याय है यह !

बेचारेके सुकुमार बच्चे भूखसे बिलबिला रहे होंगे और फटे-से कपड़े पहने उसकी घरवाली प्रतीक्षा कर रही होगी, पर जब उसे पता चलेगा कि इस बच्चोंका बाप पकडा गया और गया जेल एक सालको, तो बेचारीकी दुनिया घूम जायेगी। वह जेलमें पीसेगा चक्की और खायेगा घुड़कियाँ उस जेलरकी, जिसकी सूरत और वेष तो आदमीका है, पर भीतरसे जो आदमियतसे लाखा कोस दूर है।

मैं भी कैसा भावुक हूँ। बिना किसी नींवके घर बना डालता हूँ। चोरकी बातें सोचता रहा, पर मेरी हालत तो इस समय उस चोरसे भी बुरी है। उसे रोटियोंकी तो फ़िक्र नही है, उसके घर कोई मेहमान तो आकर न ठहरता होगा और मेहमान भी ऐसा कि मरे न माँझा ले !

छह बज गये। जेलखाना भी छह बजे ही बन्द होने लगता है।

बैरकमें बैठा बेचारा अपनी स्त्रीको याद करके रोता होगा। वह तो रो-पीट कर अपने दिन काट ही लेगा, पर यह बेचारी क्या करे? मेहनत-मजूरी करेगी और क्या, पर जवान औरतका मज़दूरी करना भी एक आफ़त है। मज़दूरी उसकी, जो मालिकके हाथ अपनी आबरू बेचे। नहीं तो रात-दिन गाली खाये – हर तरह अपमानित हो। प्रलोभनोंका जाल बेचारी पार भी कर जाये, तो चौबीसों घण्टेके अपमानको कैसे पिये! पति जेलमें पड़ा है और बच्चे भूखे हैं। मालिक या ठेकेदार हर समय पीछे पड़े रहते हैं। एक क्षण खुशामदका आता है और दूसरा गालियोंका! "बरतनोंमें मिट्टी लगी रहती है"। "आवाज सुनती ही नहीं" "हरामकी तनख्वाह लेना चाहती है"। वह क्या करे। बच्चोंको भूखा मर जाने दे, आप भी मर जाये या आपा लुट जाने दे। एक तरफ मातृत्व है, एक तरफ़ स्त्रीत्व। दोनों प्यारे। फिर यह घाटी कैसे पार हो?

एक लाल कागज़ ऊपरके तख्तेसे उड़कर मुझपर आ पड़ा। काश, यह नोट होता! उठाकर पढ़ने लगा। युवक संघके पिछले उत्सवका नोटिस था। नीचे मन्त्रीके रूपमें मेरा और सभापतिके रूपमें श्री रामप्रतापका नाम था। बड़े होनहार युवक हैं। धन-सम्पन्न हैं और शिक्षित भी। जब-से संघमें आये, जान डाल दी। जब मिलते हैं, तो लिपट जाते हैं। उस दिन उत्सवमें मेरी तारीफ़ोंके पुल बाँध दिये। बड़े ही मिलनसार हैं। इनसे ही पाँच रुपये क्यों न मंगा लूँ। सारी बला टल जायेगी। घर भी पास ही है। रतन जायेगा और आ जायेगा।

ले रतन, यह एक चिट्ठी और है। देख आँधीकी तरह जाना और तूफ़ानकी तरह आना। चिट्ठीमें लिखा था – "भाई, बीमारीसे अभी उठा हूँ, शरीर बहुत कमजोर है। बाबूजी बम्बई गये हैं। इसी समय पाँच रुपयेकी ज़रूरत है। अन्तिम आशाके रूपमें आपको कष्ट दे रहा हूं। १४ ता०को यह रुपये वापस कर दूँगा।" यों ही पत्र लिखा। इसकी क्या ज़रूरत थी? वैसे ही रतन जाता और रुपये लेकर लौट आता। पाँच

रुपयेके लिए क्या चिट्ठी-पत्री ! यह तो समयकी ही बात थी कि आज यों परेशान होना पड़ा। नहीं तो अभिमानकी बात नहीं, पाँच-पाँच रुपये तो कई बार अपरिचितोंके लिए, केवल मनुष्यताकी पुकारपर खड़े-खड़े खर्च कर दिये हैं।

स्टेशनपर उस दिन वे कितने परेशान थे। उनका बटुआ खो गया था और वे संकोचमें डूबे इधर-उधर अपनी करुण-दृष्टि घुमा रहे थे। स्वयं पूछकर उनकी स्थितिका पता लगाया और चुपकेसे पाँचका नोट उन्हें भेंट कर दिया। अपनी-अपनी आदत; संकोचवश उनके घरका पता भी नहीं पूछा। क्या कहेंगे बेचारे! पाँच रुपल्लीके लिए पता पूछ रहा है। कुछ बात भी हो पाँच रुपयेकी! कई बार सज्जनता और दीनताकी आड़में ठगा भी गया हूँ, पर धोखा कहाँ नहीं है। दुरुपयोग किस चीजका नहीं हुआ? कपटी संसारने परमात्माकी चौंपड़ बिछानेमें भी दरेग नहीं की।

पर एक बात है, पत्र लिखना भी अच्छा ही हुआ। शामका समय है, चार मित्र बैठे होंगे। रतन जाकर कहता, सबको खबर होती। पता नहीं कौन कैसा आदमी बैठा है। किसीके सामने क्या बात कहनी है, क्या नहीं, कहाँकी बात कहाँ जा पड़े! प्राइवेट बातोंके लिए सदा पत्र लिखना ही ठीक होता है। मेहमान साहब कहीं घूमने गये हैं। आते ही होंगे। दो रुपये देकर उन्हें बिदा करूँगा। भला इन्हें सूझी थी क्या कि लाठी उठायी और चल दिये। चाहिए तो यह कि चार पैसे ज़्यादा लेकर आदमी दहलीज़ लाँघे, पर इतना न हो, तो आदमीको अपना रास्ता तो दिखाई देता ही है। कैसी-कैसी खोपड़ीके आदमी हैं इस दुनियामें। दुनिया क्या पूरा अजायब-घर है यह!

लोग यों ही अजायबघर देखते-फिरते हैं। अजायबघरोंका अजायबघर तो यह दुनिया है। देखे जाओ और खत्म ही न हो। उन नक़ली अजायब-घरोंमें क्या रखा है? कुछ मूर्तियाँ, कुछ सिक्के, पुराने पत्थर, कुछ काग़ज़ोंके बस्ते और जानवर! पिंजरेमें बन्द उन शेरोंको देखकर मेरा तो

दिल रो पड़ता है, पर ऐसे भी लोग हैं, जो जंगलोंके सींखचोंमें 'पतली-सी छड़ी उसकी आँखोंमें देकर मज़ा लेते हैं। यह शेर कहीं जंगलमें दीख पड़े, तो बाबूजीकी तबीयत हरी हो जाये, पर सच है कि जंगलमें शेर शेर है, जंगलेमे तमाशा और तमाशा भी मामूली ! ओह, जंगलका शेर ! यमदूत-का भानजा है, पर यह आदमी भी कैसा भूत है कि शेरको भी पकड़कर पिंजरेमें बन्द कर देता है। जंगलमें जिसे देखनेके लिए जानकी बाज़ी लगानी पड़े, वह यहाँ ताँबेके चार टुकड़ोंमें दीख सकता है और इतने पाससे कि चाहो तो बेचारेके नाकको उँगलीसे छू दो।

क्यों जी, समझ तो इन जानवरोंमें भी होती होगी और इन्हें भी हमारी ही तरह अपनी पुरानी बातें याद आती होंगी। जंगलका राज्य, दिल दहलानेवाली दहाड़ और ऊँची उछल-कूद ! याद कर बेचारा रो पड़ता होगा। कितनी दयनीय है इसकी दशा – बिगड़े हुए रईससे भी ज़्यादा करुणाजनक ! कहाँ मीलोंका जंगल, कहाँ यहाँ दस फ़ीटका जँगला या गुफा ! कितना हृदयहीन काम है यह ? मुझे कभी कोई गवर्नर बना दे, तो इसे फ़ौरन जंगलमें छुड़वा दूँ और अजायबघरोंमें शेरका रखना और सरकसोंमे उनका खेल दिखाना सदाके लिए बन्द कर दूँ ! मुझे तो रोना आता है इनकी दशा देखकर। बिलकुल लट गया है बेचारा ! अपने अच्छे दिन भूला नही है। उन्हें भूलता ही कौन है ? यह टाल्स्टायकी कहानीका इलियास थोड़े ही है। रात-दिन भीतर-ही-भीतर रोता होगा बेचारा ! मेरा वश चले तो इसे आज ही छोड़ दूँ।

पर अब यह जंगलमें जाकर क्या करेगा ? वहाँ अब यह जी ही नहीं सकता। जंगली शेर इसे एक मिनिटमें उधेड़ डालेंगे, यहाँ जीवित तो है। याद नहीं, उस बार आत्मारामसे कहकर मैंने उसका वह पालतू बन्दर छुड़वा दिया था। तीन दिन बाद जब वह लौटा, तो लहू-लुहान हो रहा था। लौटनेपर भी जब उसे आत्मारामने नहीं बाँधा, तो वह अपनी जंज़ीर-को हाथसे पकड़कर बैठ गया। मैंने अपने जीवनमें इससे अधिक मर्मवेधी

दृश्य नहीं देखा। लोग तो तब भी हँस रहे थे, पर मैं बिना रोये न रह सका था। सचमुच बन्धन जीवनके ओजको समाप्त कर देता है। जीवनकी स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है और अस्वाभाविकतामें ही जीवन दिखाई देने लगता है। पर ग़ुलामी और ग़ुलामके प्रति इन पशुओंमें कितना विद्रोह, कितनी घृणा है। हमारे समाजमें तो आज भी रायबहादुरों और ख़ानबहादुरों, राजाओं और नवाबोंको बड़ा आदमी' माना जाता है, उन्हें ऊँचा स्थान दिया जाता है। ये लोग ग़ुलामीके संरक्षक हैं और क्या? काश, हमारा समाज भी इनके साथ वही व्यवहार करता, जो उन स्वतन्त्र बन्दरोंने उस गुलाम बन्दरके साथ किया था!

भीतरके कमरेकी घड़ीने आवाज़ दी – टन! साढ़े छह बज गये! मेरे हृदयमें घण्टेकी आवाज़ धकसे लगी। रघुकी छातीमें इन्द्रका वज्र भी इतने ज़ोरसे न लगा होगा। रतन अभीतक नहीं आया। आता ही होगा। ग़रज़में आदमी कितना उतावला हो जाता है! रतन जेबमें डालकर ला रहा होगा पाँच रुपये! हाथमें लिये हुए ही न आ रहा हो? रुपयेकी जगह भला हाथ है या जेब? कोरा मूर्ख है, इसे कभी तमीज़ ही न आयेगी। कहीं गिर जायें, तो इसके बापका क्या बिगड़ेगा? दिन-भर दौड़कर बेचारेके हाथमें ये पाँच रुपये आये हैं। उत्साहसे मुट्ठीमें दबाये दौड़ा आ रहा होगा। उत्साहमें भी आदमी पागल हो जाता है।

रतन आ गया। वाह! हाथ तो दोनों खाली हैं उसके। सावधानीसे जेबमें डालकर लाया है। अब शहरमें रहकर होशियार हो गया है। जब गाँवसे आया, पूरा बूदम था। न कपड़े-लत्तेकी तमीज़, न बातोंका शऊर; पूरा बौड़मचन्द, पर अब देखो, उड़ती चिड़ियोंके पर कतरता है।

"उन्होंने आपको नमस्ते कहा है....." बड़े सज्जन आदमी हैं। जहाँ मिलते हैं ख़ुद नमस्ते करते हैं। रुपये देते समय भी यह बात नहीं भूले। मैंने भी उनसे क्या पाँच रुपये मँगाये। कमसे कम दस मँगाता। १४ तारीख़को तो भेज ही देने थे!

"·····और कहा है जी, हमें बड़ा अफ़सोस है कि उनकी बीमारीका हमें पता ही नहीं लगा। घरपर अकेले थे। बड़ी तकलीफ़ हुई होगी। नाराज़ हो रहे थे कि उन्होंने यह तकल्लुफ़ क्यों किया?" कितने सहृदय हैं। ख़बर हो जाती, तो फ़ौरन आते। अपनेपनकी यह बात है। दुःखमें ही अपना-बेगाना दीखता है।

"रुपयोंके बारेमें उन्होंने कहा है कि सुबहको हम उधर आयेंगे। उस समय उनकी जो आज्ञा होगी, पालन करेंगे!" मैं आसमानसे एकदम ज़मीनपर आ गिरा। 'सुबहको हम आयेंगे!' भला, मुझे क्या आपकी चिता जोड़नी है यहाँ। पता नहीं इन लोगोंकी खोपड़ीमें अक़्लकी जगह गोबर भरा है या फूस। चिट्ठीमें साफ़ लिखा था कि इसी समय पाँच रुपये चाहिए, पर आप कहते हैं कल वहीं आकर आज्ञाका पालन करेंगे। यह तो सुना था कि रुपयेवालोंके दिल नहीं होता, पर आज पता चला कि आँखोंकी जगह भी इनके बटन होते हैं। कोई पूछे इस अहमकसे कि कल सुबह यहाँ आकर क्या वह मेरे सिरपर चढ़ेगा?

"पिताजी, मेरी तसवीर जोड़ दो!" ईश्वरी आकर अपनी तसवीर मुझे दे गयी। भक्त प्रह्लाद हाथ जोड़े सामने खड़ा है और भगवान् नृसिंह तपते खम्भेसे प्रकट होकर हिरण्यकशिपुका संहार कर रहे हैं। भगवान् थोड़ी-सी देर और करते, तो प्रह्लादका काम तमाम हो जाता! क्यों जी, भगवान्‌की यह क्या बुरी आदत है कि अँगरेज़ी टाइमकी तरह आखिरी घड़ीमें ही जागते हैं? बड़े कठोर परीक्षक हैं। अधिकसे अधिक देर तक भक्तके विश्वासकी परीक्षा किया करते हैं।

टाल्स्टायने अपनी एक कहानीका शीर्षक रखा है – 'भगवान् देखते हैं, पर प्रतीक्षा करते हैं।' है यही बात। 'भगवान्‌के घर देर है अन्धेर नहीं'। ठीक ही है, भगवान्‌के घर भी अन्धेर हो जाये, तो फिर प्रकाश कहाँ रहे? कैसे आड़े समयमें प्रह्लादकी रक्षा की। सचमुच इन उदाहरणों-पर ही जनतामें आस्तिकताकी भावना जीवित है।

नास्तिक और प्रत्यक्षवादी कहते हैं, ये सब आलंकारिक वर्णन हैं, यह भी कि कोरी गप्पे हैं। ईश्वर कहीं बैठा है जो समयपर आ कूदेगा ? बैठा हो या न बैठा हो, आ कूदता तो है ही। अच्छा, यह कोरा ढोंग ही सही, दुःखितोंका एक सहारा तो है; प्रत्यक्षवादी दुःख और निराशाकी जिन घड़ियोंमें आत्महत्या कर लेता है, ईश्वरविश्वासी परमात्माकी शक्ति और आशाके सहारे उन घड़ियोंमे भी सन्तोष धारण कर पाता है, यह क्या कोई साधारण बात है ?

इन शिक्षितोंके लिए और कुछ काम तो रहा नहीं, ईश्वरपर ही चढ़ाई कर बैठे – ये भी पूँजीपतियोंके ही भाई-बन्धु है। ग़रीबोंका सारा सुख लूट लिया इन मोटी तोंदवालोंने, एक ईश्वरका सहारा शेष है, उसे ये दार्शनिक छीनना चाहते हैं। अभागे ग़रीबोंके अन्धे जीवनकी यह लकड़ी – सन्तोषका अन्तिम सहारा भी इन्हें सह्य नहीं। ग़रीब बेचारा कहाँ जा मरे ? उसे कुछ तो सहारा चाहिए ही, पर इन्हे तो अपनी दार्शनिकतासे मतलब। कम्बख्त कहते हैं और समझते भी हैं कि विश्वके ज्ञानकोषमे एक नया दान दे रहे हैं। जी हाँ, बिलकुल नया दान है, पर है ज़हरकी पुड़िया।

ये आजके वैज्ञानिक भी तो बड़े दानी है। भयंकर शस्त्र, घातक गैस, हत्यारे तारपीडो, अनेक प्रकारके बम। कितने सुन्दर उपहार हैं ये ! शैतान अपनेको विश्वके सेवकोंमें शुमार करते है, पर लन्दन दस घण्टेमे कैसे उजड़ सकता है, न्यूयार्कपर मारक गैस बरसाकर उसे एकदम कैसे बरबाद किया जायेगा, बर्लिन और पेरिस एक साथ कैसे उजाड़े जा सकते है, तोकियोपर बम बरसाना कहाँसे ठीक रहेगा, ये इनकी विश्व-सेवाके नक़्शे हैं और इस प्रकार ये रात-दिन निरपराध ग़रीब जनताको उजाड़नेकी चिन्तामें घुला करते हैं, पर बमसे क्षत-विक्षत होकर भी एक ग़रीब ग्रामीण परमात्माके जिस सहारेपर, शान्तिसे मर सकता है, उसे ये दार्शनिक समेटे ले रहे हैं। उस ग़रीबकी वे आखिरी घड़ियाँ भी शान्तिसे क्यों कटें ?

अरे भाई, तुम्हारा ही कहना ठीक सही, तुम वाक़ई हवाई जहाज़में बैठकर ख़ुदाका घर देख आये हो और वाक़ई वह उजड़ा पड़ा है, वहाँ कोई नहीं रहता, यह सब कोरा ढोंग है, पर यह ढोंग कितने ग़रीबोंका जीवन-प्राण है, इसे भी तो सोचो। बन्दरिया अपने मरे बच्चेको छातीसे चिमटाये घूम रही है। दार्शनिककी दृष्टिमें यह अज्ञान है, पर यह अज्ञान ही उस अभागी माताके हृदयका एक-मात्र सहारा है। हो, तुम्हें संसारके दुःखियोंसे क्या मतलब; तुम्हें तो दर्शन और विज्ञानका सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार मिलना चाहिए। कितने धूर्त हैं ये लोग!

ग़रीबका भगवान्‌के सिवा और कौन है? भगवान् ही ग़रीबकी ख़बर लेते हैं और अवश्य लेते हैं, पर ऐं! मैं भी तो ग़रीब हूँ, दुःखित हूँ। इतनी बेचैनी तो उस खम्भेको देखकर प्रह्लादको भी न हुई होगी। सुबहसे कितना परेशान हो रहा हूँ, प्राण कण्ठमें आ गये हैं, पर भगवान् कहाँ हैं? क्या यह सब वाक़ई एक ढोंग ही है। ये प्रत्यक्षवादी लोग कुछ मूर्ख थोड़े ही हैं। आख़िर ये लोग भी तो कुछ सोचकर ही परमात्माके अस्तित्वसे इनकार करते हैं। बड़े विद्वान् हैं ये लोग तो! फिर परमात्मा है और ये लोग उसे माननेसे इनकार करते हैं, तो इन्हें प्लेग क्यों नहीं हो जाती? यह ईश्वर-वीश्वर सब कोरी भावुकता हैं, पर हाँ, एक बात है। प्रह्लादको तो परमात्मामें अखण्ड विश्वास था – वह तो उसके भरोसे आगसे लिपटने-को तैयार था। मैंने तो आज उसका ध्यान भी नहीं किया। उससे मैंने प्रार्थना ही कब की? मैं तो दिन-भर अपने ही बलपर दौड़ता रहा हूँ। जो सड़कपर सीधा चल रहा है, उसे कौन सहारा देगा? लो मैं भी नास्तिक हो रहा था। धिक्कार है मुझे। आँखें बन्द हो गयीं, मस्तक झुक गया, गला भर आया, पलकें भींग गयीं। व्यथाके भीगे स्वरमें मेरा मन पुकार उठा – मेरे प्रभु, मेरी रक्षा करो। आँसूकी शक्ति अपार है। मन कुछ शान्त हुआ, मैं अपनी गद्दीपर पीछेकी ओर लुढ़क गया। तभी बजे सात!

मौतकी घड़ी सिरपर आ गयी। अब क्या होगा मेरे भगवान् ? ख़ैर, तुम जानो, मान हो या अपमान। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो मेरे नाथ !

"सपर-सपर-फट"। मैंने आँख उठाकर देखा हज़रत जूता निकाल रहे हैं। कपड़ोंसे लैश और छोटी-सी पोटली हाथमें। जानेको एक दम तैयार, ठीक अंगरेज़ी टाइमपर आप आये है, जैसे बैंकसे चैक भुनाने आये हों, पर यहाँ क्या रखा है। मैंने तो बहुतेरा प्रयत्न किया, पर भगवान्की इच्छाको कौन बदल सकता है ? कह दूँगा – "मैंने तो बहुत कोशिश की, पर क्या करूँ जी, रुपये कहींसे मिल ही नहीं सके। असल बात यह है पण्डितजी कि बैंकमें रुपया बाबूजीके नामसे जमा है और मैं उसे निकाल नहीं सकता !" सुनकर बेचारोंको बुख़ार चढ़ जायेगा। सारी तारीफ़ ख़ाकमें मिल जायेगी। लो साहब, इनके पास दो रुपये भी नहीं। कोठी-बँगलोंमें रहते हैं और बने फिरते हैं ऐडीटर, पर दो रुपल्लीपर जान सूख गयी। भीतर-ही-भीतर सैंकड़ों गालियाँ देंगे, पर मैं क्या करूँ। भगावान्की यही इच्छा है, तो हो। चला जायेगा कम्बख़्त अपना-सा मुँह लेकर और नहीं जायेगा, तो एकादशीका व्रत करेगा।

"क्यों भाई, यों क्यों पड़े हो ?"

"तबीयत ख़राब है जी !"

"ख़राब ?"

"जी हाँ।"

"क्यों क्या बात है ?"

"हार्टफ़ेल हो रहा है मेरा !" झुँझलाहटमें भी मनुष्य क्या बक जाता है। वे कूदकर मेरे पास आये और चौंककर बोले, "हार्टफ़ेल !"

"हाँ जी !"

"नहीं भाई घबराओ मत। हार्टफ़ेल हो तुम्हारे दुश्मनोंका। कभी-कभी यों ही जी घबरा जाता है। अभी-अभी बीमारीसे उठे हो, फिर भी रात-दिन लिखते-पढ़ते रहते हो, यह ठीक नहीं।" उन्होंने मेरी नब्ज़ देखी,

पेट टटोला, माथा छुआ और दिलकी धड़कन देखने लगे। मुझे ऐसा लगा कि वधसे पहले डॉक्टर बकरेका मुआयना कर रहा है।

"टिक टिक टिक।"

मैंने आँखें खोलीं। एक देहाती बूढ़ा अपनी लाठी टेके दरवाज़ेपर खड़ा था। लो, यह कम्बख्त भी अभी आनेको था। मैंने उभरी रुखाईको दबाते हुए पूछा, "क्या है जी!"

"मैं पण्डित कन्हैयालालके दर्शन करना चाहता हूँ।"

होगा कोई बेचारा दुखिया और आया होगा अपनी रामकहानी 'विकास' में छपाने। पटवारीने खेतीका नक़शा ग़लत भर दिया होगा, थानेदारने रिश्वत माँगी होगी, ज़मींदारने गाली दी होगी, साहूकारने कर दी होगी झूठी नालिश या डि० बोर्डने लगा दिया होगा अण्ट-सण्ट टैक्स!

"कहिए क्या बात है?" मैंने नम्रतासे पूछा। "मैं उनसे मिलना चाहता हूँ जी!" वृद्धने उत्तर दिया।

"आइए, बैठिए। कहिए क्या आज्ञा है? मेरा ही नाम है कन्हैयालाल।"

"तुम पण्डित रामादत्तजीके ही लड़के हो भाई?"

मेरी जन्मपत्री बनायेगा क्या यह बूढ़ा! आया है, तो अपनी बात कहे और काम देखे। मेरी वंशावलीकी तहक़ीक़ातसे इसे मतलब, पर फ़िज़ूल दिमाग़ चाटनेकी हम लोगोंको आदत जो पड़ गयी है। फिर भी नम्रतासे ही मैंने कहा, "जी हाँ, मैं उन्हींका पुत्र हूँ। आप उन्हें जानते थे क्या?"

"अजी, वे बड़े देवता आदमी थे। बस फिर दर्शन ही नहीं हुए। मैं उनसे मिलने तुम्हारे घर (देवबन्द—मेरी जन्मभूमि) गया था, पर वहाँ उनके स्वर्गवासका समाचार मिला। मनको बड़ा दुःख हुआ, वहींसे तुम्हारा

पता चला, तब तुम्हारे दर्शन हुए।"

पिताजीका स्मरण कर बूढ़ेका दिल भर आया। हो गया होगा कहीं विवाह-बारातमें परिचय। वे इतने मीठे थे कि मिलते ही आदमीको मोह लेते थे। जानकारीके लिए मैंने पूछा, "आपका मकान कहाँ है चौधरी साहब ?" उत्तर मिला, "मेरा मकान रुड़कीके पास एक गाँवमें है भाई !" तब वृद्धने धीरेसे पाँच रुपये अपनी धोतीकी गाँठसे खोलकर मेरे सामने रख दिये। ओह, ये पाँच रुपये ! प्यासी आँखोंसे मैंने उन्हें देखा !

पिताजीका यजमान मालूम होता है बेचारा। उन्हें दक्षिणा देने बीस कोस गया और वहाँसे निराश होकर यहाँ आया। वे नहीं हैं, तो क्या; उनका उत्तराधिकारी मैं तो हूँ। राज्यकी तरह गुरुत्व भी तो वंश-परम्पराका अनुयायी है। फिर भी मैंने पूछा, "ये कैसे रुपये हैं जी !"

"महाराज, १९-२० सालसे मैं तुम्हारा क़र्ज़दार था। आज भगवान्-की दयासे उऋण हो गया। वैसे तो मैं जबतक जिऊँगा बड़े पण्डितजीका क़र्ज़दार रहूँगा"।

"कैसा क़र्ज़, मैं आपकी बातका मतलब नहीं समझा ?"

"सोमती मावसपर १९-२० साल हुए मैं अपने बाल-बच्चोंके साथ हरद्वार जा रहा था और तुम्हारे पिताजी भी जा रहे थे। तुम जब बहुत छोटे थे। रेलमें उनसे मेल-मिलाप हो गया। बड़े सज्जन पुरुष थे। अब ऐसे आदमी कहाँ हैं ? लकसरमें टिकिट लेते समय मेरा बटुआ किसीने काट लिया। मैं दुःखी होने लगा। उन्होंने मुझे धीरज दिलाया और पाँच रुपये दिये। तुम्हारी माँने मना भी किया। तुम जानो औरतोंका दिल छोटा होता है, उन्होंने कहा, "बावली, आदमी ही आदमीके काम आता है।" तबसे हर साल सोचता रहा, मौक़ा ही न लगा। बड़ी मुश्किलसे अबकी बार बानक बैठा, सो आज तुम्हारे दर्शन कर लिये।"

गाड़ीका समय समीप आ रहा था और मेरे पहले मेहमान आसन बदल रहे थे। मैंने चुपकेसे दो रुपये उन्हें भेंट कर दिये। ईश्वरीका

तक़ाज़ा आ पहुँचा – "जोड़ दी मेरी तसवीर पिताजी ?" मेरा ध्यान चित्रपर गया। भगवान् नृसिंह खम्भेसे प्रकट अत्याचारी हिरण्यकशिपुका बध कर रहे हैं। मैंने मन-ही-मन प्रार्थनाके स्वरमें कहा, "प्रह्लादके यहाँ तो तुम खम्भेसे प्रकट हुए थे, पर मेरे यहाँ तो वह खम्भा भी नहीं था। यहाँ तो मेरे देव ! तुम शून्यमें साकार हो उठे। तुम्हारी माया अपार है मेरे प्रभु !" और तभी वे वृद्ध भी खड़े हो गये – "अच्छा चल रहा हूँ, मुझे भी इसी गाड़ीसे जाना है पण्डितजी !" मनपर छाये, भक्तिके आवेशमें विभोर हो, उठते-उठते उन वृद्धके पैर मैंने छू लिये।

"हरे राम हरे राम यह क्या कर रहे हो ?" वृद्धने कहा और "आपके दर्शन आज बड़े भाग्यसे हुए।" – यह मेरे मुँहसे निकल पड़ा। वे चले गये। दिन-भरके मानसिक द्वन्द्व और घटनाकी आकस्मिकतासे मैं इतना अभिभूत था कि उनका नाम और पता पूछना भी भूल गया।

ओह, हमारे ही ज़िलेके देहातका वह अनपढ़ और गरीब बूढ़ा; जो उस दिन भगवान्‌के रूपमे बिना बुलाये मेरे द्वार आ गया था, पर जो भारतीय चरित्रका एक प्रेरक प्रतीक है।

मसजिदकी मीनारें बोलीं !

मसूरीमें लण्ढौर बाज़ारसे उतरकर कैमेल्स बैंक रोडपर चढ़ते ही सामने खड़ी है एक मसजिद। बचपनसे ही मेरा संस्कार रहा है कि राहमें मन्दिर आये या मसजिद, गिरजाघर हो या गुरु-द्वारा, जैन-मन्दिर हो या कबीर-चौरा, मेरा सिर झुक जाता है और मन एक कोमल भावनासे भर उठता है। इस मसजिदको भी मैंने देखा तो झुक गया मेरा सिर और सिर उठाकर जो उधर देखता हूँ, तो एक अजीब बात कि इस मसजिदमें एक मीनार बड़ी है, एक छोटी ! यह क्यों ? और हाँ, मसजिद में तो कई मीनारें होती हैं, ये दो हो क्यों हैं ? बड़ी मीनार तो गुम्बदकी जगह है, पर यह छोटी मीनार एक क्यों ? आगे बढ़कर देखा और समझा – अभी अधूरी है, दूसरी मीनारें अभी बनेंगी। अब जो मैं ज़रा ग़ौरसे देख रहा हूँ, तो दरवाज़ेपर ताला लगा है और कहीं भी चिनाईका सामान नहीं है। मुसलमानोंके पास खानेको रोटी हो या नहीं, मसजिदके लिए उनके पास पैसेकी कमी नहीं होती। फिर यह मसजिद बीचमें क्यों रुकी पड़ी है ?

पूछनेपर आते-जाते किसीने कहा, "देशके बटवारेके बाद साम्प्रदायिक झगड़ोंके समय यह बन रही थी। झगड़ेमें कुछ मुसलमान मारे गये, कुछ भाग गये, अब उनकी जानको रो रही है यह खड़ी हुई।" व्यंग्यमें जो चुभन थी, उसने मुझे चुटीला किया। एक हिन्दूके लिए यह खुशीकी बात क्यों है कि मसजिद बनते-बनते रुक गयी ? मसजिद रुकी या मन्दिर रुका; दोनों पूजाके स्थान हैं। पूजा ईश्वरकी; फिर जिसका ईश्वरमें विश्वास है वह दोनोंमें भेद कैसे करेगा ? विश्वास जब अन्धा हो जाता है, तब वह इसी तरह देखता है। मेरा मन करुणासे भर गया। कुछ इस तरह जैसे

मेरा अपना घर बनते-बनते रुक गया हो ! मेरी आत्मीयता गहरी हो गयी और पासके ज़ीनेसे मैं ऊपर चढ़ गया। अब मैं बड़ी मीनारके पास था।

मीनारें भौंचक-सी थीं। सुस्तीकी चादर-सी उनपर पड़ी हुई थी, फिर भी वे जाग रही थीं। मैं बड़ी मीनारके पास गया और बहुत ही प्यार-भरे हाथसे उसे थपथपाया। मुझे लगा, वह सिहर उठी और घबरायी-डर-डबायी-सी आँखोंसे उसने मुझे देखा।

बहुत ही कोमल स्वरमें मैंने उससे पूछा, "क्यों, तुम घबरा क्यों रही हो ?" वह और भी घबरा गयी और हकलाती-सी बोली, "क्या तुम मुझे तोड़ने आये हो ?"

मैं सकपका-सा गया, "क्यों मैं तुम्हें क्यों तोड़ूँगा ?"

"तुम हिन्दू हो न !" मीनारने कहा।

मैं आपेकी लज्जामें डूब-डूब गया और मनमें आया – इसी मीनार-पर चढ़ जाऊँ और घड़ामसे नीचे कूद पड़ूँ। अपनेको सँभालकर मैं उससे लिपट गया और कई बड़े-बड़े आँसू मेरी आँखोंसे उसपर टपक पड़े। सान्त्वनाके गम्भीर स्वरमें तब उससे मैंने कहा, "नहीं नहीं, मैं तुम्हें तोड़ूँगा क्यों ? मेरे लिए तो तुम पूजाकी चीज़ हो।"

मीनारके साँस अब स्वस्थ हो रहे थे। सँभलकर उसने कहा, "माफ़ करना, मैंने तुमपर ऐसा शक किया, पर क्या करूँ यहीं खड़े-खड़े मैं वह सब कुछ देख चुकी हूँ, जिसे देखकर यक़ीन मुरदा हो गया है और शककी बेल लहलहा उठी है।"

"क्या उसकी कहानी मुझे न सुनाओगी, मीनार रानी ?" मैंने एक बार फिर उसे प्यारसे थपथपाया।

"वह कहानी नहीं है, एक उपन्यास है; वह भी बहुत बड़ा। उसे सुनाना और सुनना दोनों ही मुश्किल हैं, इसलिए मैं तुम्हें एक-दो इशारे देती हूँ, उससे तुम जितना समझ सको, समझ लेना।"

मीनार कहने लगी, "मसूरीकी म्युनिस्पैलिटी बहुत दिनोंसे कुछ कर्म-

चारियोंका अन्धेर-घर हो रही थी। लोगोंने उसे अपने लाभका साधन बना रखा था। सरकारने उसे भंग कर अपने हाथोंमें ले लिया और किदवईको एडमिनिस्ट्रेटर नियुक्त कर दिया। यह एक भला, ईमानदार और मज़बूत इन्सान था। इसने आते ही इस अँधेरे घरमें व्यवस्थाका दीपक जलाया कि उल्लुओंका राज उजड़ गया। स्वाभाविक है कि उल्लुओंका यह गिरोह उससे चिढ़ गया और मसूरीमें साम्प्रदायिक बाढ़के आते ही, इन उल्लुओंने उसे क़त्ल कर दिया।

उल्लुओंने एक मसालची क़त्ल कर दिया, बात इतनी थी, पर कहा गया, डोण्डी पीटी गयी कि हमने एक बुराईको साफ़ कर दिया। अब कमाल यह कि जिसने उस डोण्डीको सुना, उसकी दाद दी और अपनेमें खुशी मनायी। किसीने भी यह नहीं सोचा कि यह शफ़ीक अहमद किदवई उस किदवई (रफ़ी अहमद किदवई) का सगा भाई था, जिसकी सारी ज़िन्दगी देशकी सेवामें कटी और यह उस बूढ़े किदवईका बेटा था, एक हिन्दूके हाथों महात्मा गान्धीकी हत्याका समाचार पाते ही जो दुनियासे चल बसा – जिसके दिलकी धड़कन बन्द हो गयी !

यह है पहला इशारा और लो यह दूसरा –

साम्प्रदायिक आगको शान्त रखने और उससे इस सुन्दर नगरकी रक्षा करनेके लिए अट्ठाईस मैजिस्ट्रेट बनाये गये। इनमें कुछ ऐसे थे, जिन्हें मुसलमानोंकी कोठियाँ ख़रीदनी थीं, कुछको दूकानें और कुछको इसी तरहका दूसरा सामान !

मैजिस्ट्रेटीका बिल्ला उनकी बाज़ूपर बँधा होता, फ़ौजके छह सिपाही उनके साथ होते और इस तरह इन मैजिस्ट्रेट साहबकी निगरानीमें लूट, आग और क़त्ल-काण्ड होते। सभी तो ऐसे नहीं थे, कुछ तो बहुत ही ईमानदार थे, पर हाँ कई ऐसे थे। एक नवाबकी कोठी लुटी और उसका सामान इस तरह उठा कि जैसे लाला नक़द दिये ला रहे हों। इन्हींमें-से एकने एक नागरिकको टेलेफ़ोन किया कि तुम्हारा घर आज पाँच बजे

फूँक दिया जायेगा। तुम फ़ौरन घरसे हट जाओ। मैं मित्रके नाते अपनी जान ख़तरेमें डालकर तुम्हें सूचना दे रहा हूँ कोई और प्रबन्ध न हो, तो तुम मेरे घर चले आओ।" वह बेचारा अपने परिवारको लेकर चार बजे ही कचहरी जा बैठा और मैंने आँखें फाड़कर देखा कि पाँच बजे वे टेलेफ़ोन करनेवाले सज्जन ही धूमधामसे उस ख़ाली घरपर क़ब्ज़ा किये बैठे थे!"

मीनारने यहाँ इतना लम्बा साँस लिया कि मेरा साँस दर्दसे भर उठा। तब फिर मीनारने कहा, "और भाई, इस सब गड़बड़को धर्मका, धर्मकी रक्षाका नाम दिया गया, जिसका मतलब कुछ आदमियोंको घबराहटमें डालकर उनकी जायदाद और मालको कम दामों या मुफ़्त हड़प लेना ही था। यानी खुले तौरपर चोर और डाकू लोग धर्मके रक्षक बने हुए थे और मैं यहाँ खड़े-खड़े यह सब देख रही थी!"

मीनार अब चुप थी। उसका मन दर्दसे भर-सा गया था। "ये चोर और डाकू मेरी जातिके थे और धर्मके उस स्वरूपको माननेवाले थे, जिसे मैं भी मानता हूँ, इसलिए मीनार रानी, मैं भी तुम्हारे सामने अपनेको बहुत लज्जित पा रहा हूँ और मेरी समझमें नहीं आता कि मैं तुम्हारे दुःखमें इस समय कैसे भागीदार बनूँ?" मैंने बहुत ही नम्र होकर कहा, तो मीनार जोरसे हँस पड़ी। बोली, "तुमने मेरी बात सुनी, पर उसका मर्म नहीं समझा। यह मेरी या तुम्हारी या उनकी जातिवालोंका सवाल नहीं है, क़तई नहीं है मेरे भाई, यह तो अन्धे नारोंका सवाल है। इसमें तत्त्वकी, सचाईकी बात तो सिर्फ़ इतनी ही है कि ख़ुद-ग़र्ज़ और चलते-पुरजे लोग अपनी बदमाशियोंको ऐसी सूरत दे देते हैं कि आम जनता उसमें इस तरह उलझ जाती है कि पाप बन जाता है पुण्य और बुराई दीखने लगती है भलाई!"

मीनार कुछ सोच रही थी। अचानक वह बोली, "मैं ठीक कह रही हूँ तुमसे कि इस मसलेको हम तेरा-मेरा या हिन्दू-मुसलमानका बनाकर ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। यह भूल-भुलैयाका रास्ता है और फिर तुम

सारा दोष अपनी जातिके सिरपर तो थोप ही नहीं सकते !"

"क्यों ?" मैंने अचकचाकर पूछा! मीनारकी छाती, मुझे लगा पुरानी दुःख-भरी यादोंसे भर उठी है। अपनेको सँभालकर उसने कहा, "यह इसलिए कि अभी-अभी मैंने जिन बदमाशियोंकी चर्चा तुमसे की है, वह उस आगकी लपटें थीं, जिसे मेरे धर्मवाले (हाय, उन अभागोंको और क्या कहकर तुमसे परिचित कराऊँ ?) बरसोंसे सुलगानेको झपक रहे थे। लकड़ियाँ इकट्ठीकर इस आगकी चिनगारी तो रख गया था सर सैयद; पर इसे ज्वालाका रूप देनेका मौक़ा मिला इस ज़मानेके लोगोंको। अरे, तुम नहीं जानते, यह सब मेरी ही छायामें हुआ और मैंने यह सब इन्हीं आँखोंसे देखा। इस देशके पुराने धर्मवालोंको, उन्हींमें-से निकले मेरे धर्मवालोंने कौन-सा कष्ट है, जो नहीं दिया। उन्होंने मेरी छायामें बैठकर ही उनके जुलूसोंका बाजा बन्द करानेकी बात सोची और यहीं बैठकर उन्होंने जाने कितने भयंकर दंगोंके नक़शे बनाये। उन्हें उस दिन क्या पता था कि जिन अँगरेज़ोंके इशारेपर वे इस ठण्डे देशमें दंगोंका यह गरम सबक पढ़ रहे हैं, वे यहाँसे चुपचाप खिसक जायेंगे और वह सबक़ ही हमारी जानका गाहक हो जायेगा !!"

मीनार अब चुप थी। मैंने उसकी ओर देखा, वह चुप ही रही। मुझे लगा, उसके दिमाग़में अब विचारोंकी आँधी उठ आयी है और वह उसे बुरी तरह झकझोर रही है। उसका मन बदलनेको मैंने कहा, "मीनार रानी, तुम बहुत ऊँची हो और बहुत दूर तक देखती हो; इसलिए बीते दिनोंकी यह कहानी तो तुमने सुनायी, पर आनेवाले ज़मानेकी भी तो कुछ बात बताओ !"

"आइन्दाको ख़ुदा जानता है !" मीनारने कहा, "पर भाई, आजके हम ख़ुद मालिक हैं, इसलिए कलकी फ़िक्र छोड़कर मुझे तो यह दीखता है कि हम आजकी बातको समझें और उसपर अमल करें, तो आनेवाले कलको जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं !"

"तो फिर आजकी ही बात बताओ।" मैंने कहा।

"आजकी बात ?" मीनारने अपने बिखरे विचारोंको बटोरते हुए कहा, "आजकी बात तो बस इतनी ही है कि इनसान यह समझ ले कि धर्म विश्वासकी चीज़ है, इसलिए जिनका विश्वास पूजामें है, वे पूजा करें और जिनका नमाज़में है, वे नमाज़ पढ़ें, पर इनसानकी सबसे ज़रूरी चीज़ इनसानियत है। इनसान पूजा करे या नमाज़ पढ़े, पर यदि उसमें इनसानियत नहीं है तो वह इनसान नहीं हो सकता !"

एक आवेशकी-सी मूडमें मेरे मुँहसे निकल पड़ा, "वाह, यह तो तुमने बड़े पतेकी बात कही।"

छोटी मीनार अचानक बोल उठी, "बात तो बड़े पतेकी कही, पर मुसीबत तो यह है कि आज इनसान इनसानियतको खोकर धर्मात्मा बननेको बेचैन है।"

मैं अब सड़कपर आ गया था। मेरे पैर चल रहे थे और दिमाग़ सोच रहा था—सचमुच यह कितनी अजीब बात है कि इनसान इनसानियतको खोकर धर्मात्मा बन्नेको बेचैन है !

युक्तप्रान्तकी असेम्बलीमें

आरम्भ

३ नवम्बर १९४७, प्रातः ग्यारह बजे। टिक, टिक, टिक, तीन बार मेज़ खटकी और श्रद्धेय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन भीतर पधारे। सब सदस्योंने खड़े होकर उनका स्वागत किया, उन्होंने सिर झुकाकर उसे ग्रहण किया और बस स्वतन्त्र भारतमें यू० पी० असेम्बलीका पहला अधिवेशन आरम्भ हो गया। केन्द्रीय असेम्बलीमें यह प्रथा रही है कि सभापतिके आनेसे पहले 'मार्शल' सदस्योंकी ओर मुँह करके कहता है – 'दि आनरेब्ल प्रेसीडेण्ट' और सदस्य खड़े हो जाते हैं। प्रेसीडेण्टके पद-ग्रहण करनेपर बूढ़ा मार्शल अपनी कुरसीपर बैठ जाता है और अकसर सोता रहता है। प्रान्तीय असेम्बलीमें सेक्रेटरी ही मेज थपथपाते हैं। केन्द्रीय असेम्बलीमें प्रेसीडेण्टके सिंहासनसे नीचे सेक्रेटरी बैठते हैं, पर प्रान्तीय असेम्बलीमें सेक्रेटरी स्पीकरके इतने पास बैठते हैं कि उनकी बात सुन सकें।

एक ही नज़रमें

स्पीकरके सामने हॉलमें बायीं तरफ़ विरोधी दल यानी आजकल लीग दल, सामने ज़मींदार पार्टी और दायें हाथ सरकारी दल, जिसकी पहली सीटपर बैठते हैं महामान्य महामात्य श्री गोविन्दवल्लभ पन्त। यह उस सीटके बिलकुल सामने है, जिसपर आजकल बैठते हैं विरोधी दलके नेता श्रीलारी साहब और लारी साहबकी यह सीट वही सीट है, जिसपर बैठनेके बाद १९२४ में पन्तजीकी महान् प्रतिभाको पहली बार देशने पहचाना था। पन्तजी बायेंसे दायें आ गये हैं; अर्थात् देशके भाग्यकी उलटी धारा अब सीधी हो गयी है।

उनके पास बैठते हैं माननीय श्री सम्पूर्णानन्दजी शिक्षा-मन्त्री। उसके बाद माननीय श्री ठाकुर हुकुमसिंहजी माल-मन्त्री, माननीय श्री गिरधारी-लालजी नशा-मन्त्री और दूसरे माननीय मन्त्री। मन्त्रियोंके पीछे उनके सभासचिव – पार्लामेण्टरी सेक्रेटरी। ये लोग हमेशा असेम्बलीमें नहीं बैठते – अकसर अपने दफ़्तरोंमें चले जाते हैं। मन्त्रियोंमे सबसे अधिक बैठते हैं, श्री हुकुमसिंहजी, क्योंकि क़ानूनोंके बनाने-बिगाड़नेका काम भी उन्हींके हाथमें है। पार्लामेण्टरी सेक्रेटरियोंमें श्री गोविन्द सहाय और श्री-जगनप्रसाद रावत काफ़ी देर बैठते हैं।

मेम्बरोंके पीछे विशेष गैलरियाँ हैं, जिनके ऊपर दूसरी मंजिलमें दर्शक-गैलरियाँ है, प्रेस-गैलरी स्पीकरके सामने नीचे हॉलमें है। दिन-मे भी बिजलीकी रोशनी रहती है, एक विशाल गुम्बद इस सबको ऊपरसे ढके हुए है। हॉलमे घुसते ही एक भव्यता आदमीके मन पर छा जाती है।

एक गहरी नज़र

लीग दलपर एक गहरी नज़र डालते ही सबसे पहली जो बात मनमें आती है, वह यह कि यह बड़े आदमियोंका वर्ग है। हमारे प्रान्तमे यह दल काँग्रेसके साथ ही बढ़ा है, पर १५ अगस्तने इसकी शक्तिके टुकड़े कर दिये हैं। कोशिश हो रही है कि ये टुकड़े जुड़कर फिरसे एक शिलाका रूप ले लें, पर कोशिश हो रही है कि ये टुकड़े पिस जायें और फिरसे उभर न सकें। समय दूसरी कोशिशके साथ है और यही विजयी होगी। लीगी सदस्य इसे महसूस करते हैं, यह इससे सिद्ध है कि उनपर एक मायूसी छायी हुई है। जब पन्तजी बोलते है, तो वे बायीं हथेलीपर गाल रखे बैठे रहते हैं जैसे अभियुक्त जजका फ़ैसला सुन रहा हो। वे जानते हैं, अगली असेम्बलीमें हम यहाँ न होंगे। उन्हे देखकर दया-सी आती है, पर बिलकुल वैसी, जैसी बिना टिकिटके मुसाफ़िरको जब टिकिट-चैकर झँझोड़ता है, तो आ जाती है।

देशके साथ लीगियोंने जो ग़द्दारी की है, उसकी सही सज़ा है मौत।

यह निश्चय है कि यह घटना यदि किसी डिक्टेटरी देशमें हुई होती, तो १५ अगस्तकी रात इन लोगोंकी जिन्दगीकी आखिरी रात होती, पर हमारा देश प्रजातन्त्री है, इसलिए ये जी रहे है और जियेंगे। हाँ, इस तरह कि हर घड़ी अपनेको मुरदा महसूस करें। छह सेकेण्डकी उस मौतसे यह बरसों लम्बी मौत वाक़ई कड़वी है, इसमे शक नहीं।

ज़मींदार पार्टीपर नज़र डालते ही ऐसा लगता है, जैसे ये अपनी मरती क्लासके लम्बे साँस हों! अगली असेम्बलीमे बेचारे दूसरे मेम्बरोंसे पास माँगकर कभी-कभी यह हॉल देखने आया करेंगे। ज़मींदारियाँ ही खत्म हो जायेगी, तो जूतेके जोरसे वोट लेनेवाले कहाँ रहेंगे?

काँग्रेस दलपर एक नज़र डालते ही पहली बात जो मनमे आती है वह यह कि उसमें प्रान्तकी सर्वोत्तम प्रतिभाएं नहीं, सर्वोत्तम स्वतन्त्रता-साधक है। अभीतक जेल-निवासकी घड़ियाँ गिनकर मेम्बरीकी रेवड़ियाँ बाँटी गयी हैं और यह ठीक भी है, पर भविष्यमे ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक दृष्टिकोण बढ़ता जायेगा, उपयोगिता ज़ोर पकड़ेगी।

अपनी छोटी-सी फ़ाइल लिये, देखिए, वे चली आ रही हैं श्रीमती विद्यावती राठौर। ८ फ़रवरी १९३६ को 'लीडर' के विश्व-विख्यात सम्पादक सर सी० वाई० चिन्तामणिको इन्होंने ६००० वोटोंसे हराया था। इन्हे प्रणाम। सर चिन्तामणि, सर सीताराम और सर पण्मुखम् चेट्टीकी हारे पिछले चुनावके चमत्कार थे। चमत्कार आन्दोलनको उभार देते हैं, पर निर्माण चमत्कारोंसे नही, गम्भीर योजनाओंसे बल पाता है। यह स्वस्थ दृष्टिकोण अब प्रबल होगा और आशा है अगली असेम्बलीमे जहाँ प्रान्तके सर्वोत्तम क़ानून-विशारद आयेंगे, वहाँ कृषि-विशारद, पत्रकार, शिक्षाशास्त्री, चित्रकार, अभिनेता, व्यापारी, उद्योगी और विभिन्न अन्य धाराओंके प्रतिनिधि भी दिखाई देंगे। इससे गुणीजनोंका व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओंके कारण अराष्ट्रीय संस्थाओंमें जाना और नयी-नयी पार्टियोंका बनना रुकेगा और असेम्बली हमारे प्रान्तकी आत्माका सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व करनेमें समर्थ होगी।

रूसकी पार्लामेण्टमे भी इस तरहके परीक्षण किये गये है और वे बहुत सफल रहे हैं। केन्द्रीय सरकारमें सर चेट्टी, डॉ० अम्बेडकर, श्री मुकर्जी और श्री भाभाका आना भी इसी दिशाका एक इशारा है।

एक और नज़र

असेम्बलीपर नजर डालते ही एक लाल चीज़पर ध्यान जाता है। यह मौलाना हसरत मोहानीकी तुर्की टोपी है। बीमारी और बुढ़ापेका चाटा शरीर, साधारण कपड़े और धीमी—भर्रायी-सी आवाज, यह १९२० के उस क़िलेके खण्डहर है, जिसमें तब ऐसी रोशनी थी कि आँखें चुधियाँ जाती थी, ऐसी दहाड़ें थीं कि कान फटते थे। देखकर दिल तड़फ उठता है। ओह, यही वह मोहानी है, १९२०-२२में जिसकी नज़रोंसे आगरा जेलकी काल कोठरियाँ गूँजी। जिसे राष्ट्रपति होना था, वह राष्ट्रपतित होकर रह गया !! ठीक है, भारी चीज जब ऊँचाईपर-से गिरती है तो तिड़कती नहीं, खोल-खोल हो जाती है।

आह मौलाना हसरत मोहानी : लीग दलके सबसे बेचैन मेम्बर, जैसे कायदे-आजमकी बूढ़ी तलाक-बेवा या शाहंशाहे पाकिस्तानका चूमा हुआ आम !! खुदा इनकी रूहको राहत दे !!!

इसी नज़रमें यह एक और भगवा-सा कुरता, छोटे बालोंका सिर, बिना मूँछका चेहरा, हंसमिले होंठ, ऊंची-सी धोती और हाथमें झोला, यह है महन्त जगन्नाथदास — यू० पी० असेम्बलीमे एक मात्र साधु-सदस्य। साधुओंका काम चकाचक छानना है कि जेल काटना ? लीडरीका नशा भी आये, तो सेठोंकी अन्धश्रद्धा या जनताके भोलेपनका लाभ उठाकर आगे बढ़नेका तरीक़ा करपात्री और दिग्विजयनाथसे सीखिए, पर नहीं, महन्त-जीका पथ साधनाका पथ रहा है और पिछले दो युगोंसे उसपर दृढ़ताके साथ चलकर ही वे यहांतक आये है। काश, देशके साधु उनके आदर्शसे शिक्षा लें और उस बाढ़से बचें, जो तेज़ीसे आ रही है और उन्हे विनाशके

सागर तक पहुँचाकर ही साँस लेगी।

इसी नज़रमे गलेके दो साफ़ोंपर भी ध्यान जाता है। पहला स्वायत्त-शासनके मन्त्री माननीय श्री आत्माराम गोविन्द खेरका तह किया हुआ, दायीं बग़लसे हो बायें कन्धेपर गया और दूसरा श्री धुलेकरका, पंजाबी स्त्रियोंकी चुन्नीको तरह छातीसे दोनों कन्धोंको पार कर कमरपर लटकता हुआ।

महिला सदस्याओंमें विशालता, आकृति और चाल तीनोंमें पण्डित पन्तके समान श्रीमती प्रकाशवती सूद हॉलमे झाँकते ही आँखोंमे आ जाती हैं।

हॉलकी झाँकीमे रंगोंका अनुपात है ८५ प्रतिशत सफ़ेद, १० प्रतिशत काला और ५ प्रतिशत शेप।

मन्त्रियोंमें आकृतिके ध्यानसे सबसे विशाल है पन्तजी, सम्पूर्णानन्दजी और शेरवानीजी तथा सबसे पतले है खेरजी और लालबहादुरजी! सबसे नाटे सभासचिव हैं गोविन्द सहायजी और सबसे दुबले जगनप्रसादजी रावत।

सारी असेम्बलीमे सम्भवतः सबसे सुन्दर सदस्य है, श्री कमलापति त्रिपाठी – माथेपर गोल बिन्दी, बड़े बाल, भरा शरीर, हंसकी चाल, गहरे पान-रचे होंठ और नारी-सौन्दर्यसे ओतप्रोत आकृति। देखकर फिर देखने-को जी चाहता है!

"मैं दुनिया-भरमें एक गवर्नमेण्ट देखना चाहता हूँ, पर यह देरकी बात है! मैं सपना देखनेवाला भी हूँ, पर मै वास्तविकतासे भागा नहीं हूं। ज़रूरत है कि हम आजके खतरोंकी ओर देखें, आँखोंपर पट्टी नहीं बाँधे। मर्द बनें, क्योंकि देश शक्तिके भरोसेपर ही जीवित रह सकता है और जनताकी शक्ति ही हमारी शक्ति है।"

देशकी नयी हालतपर रोशनी डालते हुए अपनी पैनी शैलीमें श्रद्धेय श्री टण्डनजीने कहा। उनके भाषणमें पीड़ा भी थी और हुंकार भी।

सतर्कता भी थी और आत्म-विश्वास भी। यही नहीं कि टण्डनजी यू० पी० असेम्बलीके गौरव-स्तम्भ हैं, असलमें देश-भरकी प्रान्तीय असेम्बलियोंके स्पीकरोंमें भी वे ऊँचा स्थान रखते हैं। संक्षेपमें – निडर, निःस्पृह, निर्मम और निर्मल। पिछले तीन-चार वर्षोंमें मैं उनके काफ़ी निकट रहा हूँ और उनकी अस्तव्यस्त मूँछों और छोटी-सी रूखी दाढ़ीमें बार-बार आँक उठती मुसकान एवं बिखरते अट्टहास और साथ ही भारी भौंहोंके नीचे अन्यायके विरुद्ध उभर-उभर उठती कठोरताको देखकर सदा मैंने सोचा है कि वे हमारे प्रान्तके सबसे सजीव वृद्ध हैं। वीर बन्दा बैरागी एकान्त ईश्वर-साधनाको छोड़कर एक दिन युद्धके मोर्चेपर आ डटा था और मैं सोचा करता हूँ – देशपर किसी दिन संकट आये, तो हमारे बाबूजी भी यू० पी० असेम्बलीका सभापतित्व और हिन्दी आन्दोलनकी पतवार फेंककर किसी सेनाका नेतृत्व करते नज़र आयेंगे।

शरीरमें चुलबुले-से और विचारोंमें बुलबुले-से श्री धुलेकरजी उठे और उन्होंने यह 'पॉइण्ट ऑव ऑर्डर' उठाया कि दो राष्ट्रोंके उसूलको माननेवाले लोगों सदस्य क्या इस असेम्बलीमें बैठ सकते हैं? श्री धुलेकर जिस माइकपर आये, वही खराब निकला। तब लीगियोंने उन्हें अपने माइकपर बोलनेकी दावत दी। इसपर चारों ओर हँसीका फ़व्वारा-सा छूट गया और खूब मेज़ें पिटीं। प्रधानने उसे नामंज़ूर कर दिया। नामंज़ूर तो उसे होना ही था, फिर भी इसने लीगियोंको गम्भीर कर दिया। प्रधानके रूलिंगसे पहले वे इतने खोये-खोये-से हो गये थे कि मुझे लगा कि वे दिलके दर्पणमें अपनी सूरतें देख रहे हैं!

ढलती जवानीमें भी पचीसे जवान-से चुस्त, ऐवर रेडी और ऐवर हैप्पी हमारे माल-मन्त्री श्री ठाकुर हुकुमसिंहजी उठे और नयी सपथके सम्बन्ध-में उन्होंने एक सुझाव दिया। सुझाव अँगरेज़ीमें और उसका परिचय हिन्दीमें! पूछा गया कि अब भी प्रस्ताव अँगरेज़ीमें क्यों? स्पीकरने उत्तर दिया, "अभीतक यही नियम है। अब आप नियम बदल लें, तो चाहे

जिसमें रखें !" मैंने देखा, श्री टण्डनजी शब्दोंके प्रति कितने सतर्क हैं। उन्हें मालूम था कि आज ही हिन्दीका प्रस्ताव आनेवाला है और भविष्यमें सब कुछ हिन्दीमें होगा, पर उन्होंने कहा यही कि आप नियम बदल लें और चाहे जिसमें रखें ! पिछले वर्षोंमें मैंने बार-बार अनुभव किया है कि टण्डनजीमें बड़ी गहरी वैधानिकता है और वे असलमें जन्मजात स्पीकर हैं।

फ़ैसला हुआ कि सब नयी शपथ लें कि हम अपने देशके प्रति वफ़ादार रहेंगे। १५ अगस्तसे पहले यह नियम था कि असेम्बलीके मेम्बरोंको यह शपथ लेनी पड़ती थी कि हम अपने देश और ब्रिटिश ताजके प्रति वफ़ादार रहेंगे। सबसे पहले स्वयं टण्डनजीने शपथ ली, इसके बाद मन्त्रियोंने और तब सदस्योंने। इसमें कई घण्टे लगे और यह एक फीका तमाशा रहा। हम अपने रोजके जीवनमें हज़ार क़समें झूठी खाते हैं, तो एक यह भी सही। फिर अगर ताजके प्रति वफादारीकी क़सम खाकर भी हम काँग्रेसी लोग बगावत कर सकते है, तो दूसरोंको कौन रोकेगा ? मुझे लगा कि यदि टण्डनजी सबको एक साथ खड़े करके शपथ दिलाते, तो वातावरण गम्भीर हो जाता। अब तो यह क़ानूनी बेगार थी।

मध्याह्नके बाद हमारे प्रान्तके मुकुटमणि महामान्य श्रीमान् पण्डित गोविन्दवल्लभ पन्त नयी परिस्थितियोंपर बोले। पन्तजीकी अपनी भाषण-शैली है। जब वे बोलना आरम्भ करते है, तो कुछ उखड़े-उखड़े-से रहते हैं – बहुत हलके, एकदम मामूली बातें। सुननेवाला सोचता है – अरे, यही वह महान् पन्त है ? भाषणके बीचमें वे जमते है और अन्तमें चार सधे हुए ऐसे हिट मारते है कि मैदान उनके हाथ रहता है, विरोधी चारों खाने चित।

उनकी भाषण-शैली फ्रान्सके महान् कलाकार विक्टर ह्यूगोकी लेखन-शैलीसे मिलती है। इतनी अधिक कि देखकर आश्चर्य होता है। ह्यूगोके शुरूके परिच्छेद कुछ ऐसे बिखरे-बिखरे-से होते है कि उन्हें पढना एक साहित्यिक बेगार होती है, पर इसके बाद तो वह ऐसा पकड़ता है कि भूत;

छुड़ाये न छूटे और पढ़नेके बाद भी दिमाग़-दिल उसीमें लीन रहें !

पन्तजीका भाषण सुनकर एक प्रश्न उठता है—वे प्रवक्ता है या डिबेटर ? प्रवक्ताका काम भावनाओंको उभार देना है और डिबेटरका काम एक तथ्यकी स्थापना। प्रवक्ताका प्रभाव तुरन्त पड़ता है, पर वह तुरन्त समाप्त भी हो सकता है। डिबेटरका प्रभाव देरमें पड़ता है, पर अधिक स्थायी है। बात यह है कि प्रवक्ता अपनी ही बात कहता है और डिबेटर हमारी शंकाएँ स्वयं खड़ी करके उनका जवाब भी देता जाता है। पन्तजी-की भाषण-कलामें प्रवक्तापन भी है अवश्य, पर मुख्य रूपसे वे डिबेटर ही है – विचारोंके बहुत सफल वकील।

वे बोलते समय कभी-कभी मेज थपथपा देते हैं, जैसे अपनी स्थापना-का खूँटा हिला-हिलाकर ठोंक रहे हों। अपने भाषणमें वे बाहरसे भीतर जाते हैं और भीतर हृदयसे रस ग्रहण करते है। असलमें वे हृदयप्रधान मनुष्य हैं या मस्तिष्कप्रधान ? बड़ा मुश्किल सवाल है, पर मै कहना चाहता हूँ कि इस सवालपर हम एकतरफ़ा हाँ नहीं कर सकते। उनमें प्राचीन भारतका सांस्कृतिक हृदय है, नये युगका राजनैतिक मस्तिष्क। उनमें हृदयकी कोमलता है, मस्तिष्ककी दृढता। उनका हृदय दानशील है और मस्तिष्क ग्रहणमें जागरूक और बस यहीं वे अपने साथियोंमें श्रेष्ठ है—महान् है।

उनका भाषण लम्बा था। उसका सार था कि जो वफ़ादार है, हम प्राण देकर भी उनकी रक्षा करेंगे और जो बेवफ़ा है, वे चले जायें, वरना हम उन्हे कुचल देंगे। इस भाषणको अगर एक लेख मान लें, तो उसका शीर्षक होगा – 'आत्मविश्वास; हमें अब कोई नहीं कुचल सकता।' पन्तजी जब बोल रहे थे, तो लीगियोंके कान सुन रहे थे और दिल सोच रहे थे। यही श्री पन्तजीके भाषणकी सफलता है ! पन्तजीका भाषण सुन-कर और असेम्बलीके अनेक सदस्योंसे मिलकर मैंने अपनेसे कहा – पन्तजी-के हाथमें हमारे प्रान्तका भाग्य सुरक्षित है और अभी बहुत दिनोंतक उनका

नेतृत्व अखण्डनीय है ।

मुसकराता ख़ूबसूरत चेहरा और सधा शरीर, ये उठे विरोधीदलके नेता श्री ज़हीरुल हसनैन लारी । बोले, "आनरेब्ल प्रीमियरने साफ़-साफ़ बातें कही हैं । साफ़ बातें अच्छी होती हैं, इसलिए मैं भी साफ़ बातें कहूँगा ।" सुनते ही मुझे लगा कि वातावरणमे गरमी आयेगी, पर चतुर लारी वहीं सँभल गये और खारे न बनकर खरेपर ही रुक गये । उनके सारे भाषणका सार था कि जिन्नासे अब हमारा कोई सम्बन्ध नहीं और हम पूरी तरह देशके प्रति वफ़ादार रहेंगे । लारीके भाषणका नारा था – हमने कोई भूल नहीं की और अब भी हम कोई भूल नहीं करेंगे, पर मुझे लगा कि जल्दी या देरमें समयका चक्कर इन्हे पढ़ाकर ही रहेगा कि तुमने भूल की – भयंकर भूल और उस भूलका कफ़्फ़ारा करके ही तुम आबरूकी ज़िन्दगी यहाँ गुज़ार सकते हो ।

अब आया हिन्दीका प्रस्ताव – असेम्बलीका सब काम आइन्दा हिन्दीमें ही हो । लीगके लंगरमें खलबली मच गयी – जैसे बच्चे सँपेरेका पिटारा खुलते समय चौंक पड़ते है, वे महसूस करते हैं कि साँप उनकी आस्तीनमे है । हिन्दीके पक्षमे श्री जगमोहन सिंह नेगीका भाषण आर्यसमाजी भजनोपदेशक टाइपका था । ऐसे भाषण हमारे सदस्य न दें, तो ठीक है । श्री कमलापति त्रिपाठीका भाषण एक समझदार भक्तका भाषण था । वैज्ञानिक दृष्टिकोणके एक भाषणकी कमी रह ही गयी । सचाई यह है कि असेम्बलीके कार्यके प्रति तल्लीनता मुझे बहुत कम मेम्बरोंमे दिखाई दी । वे सोचते हैं – काम करना सरकारी मेम्बरोंका काम है और फिर किसी प्रस्तावको पास करनेकी शक्ति तो हमारे हाथमें है ही ।

हिन्दुस्तानीके पक्षमें श्री इशहाक ख़ान खूब जमकर बोले । भाषण अँगरेज़ीमे था और इसके लिए तैयारी की गयी थी । जब वे गान्धीजी और जवाहरलालजीको बार-बार उद्धृत कर रहे थे, मेरे जीमें आया ज़ोरसे पुकार उठूँ – टू लेट माई डियर (प्यारे, अब तुम बहुत लेट हो गये) ।

ये वही इशहाक खान हैं, जो हिन्दुस्तानीके नामपर साँस नहीं लेते थे। मुझे याद है कि एक बार श्री महन्त जगन्नाथदासजीने हाथ जोड़कर इन्हींसे प्रार्थना की थी कि कृपाकर उर्दूमें बोला करें, पर वे टससे मस न हुए। आज उन्हें गान्धीजीका गुणगान करते देखकर दया आती है। यह सच है कि लीगियोंने देशको मिटानेमें कोई कसर नहीं रखी, पर यह भी सच है कि वक़्तने उन्हें भी बरबाद कर दिया। आज वे शिकायत करते हैं कि सरकारी अफ़सरोंमें 'ईमानदारी' नहीं है, पर वे यह क्यों नहीं सोचते कि अफसरों-को 'बेईमानी' का सबक़ उन्होंने ही पढाया था।

हिन्दीका प्रस्ताव पास हो गया और मुसलिम लीगी 'वाक आउट' कर गये! उनकी ख़ाली सीटें पड़ी कह रही थी – "यह लोग अभी नहीं बदले और जबतक मजबूर न हो जायें बदलेंगे भी नहीं।"

हिन्दीका प्रस्ताव पास हो गया। इसका अर्थ हुआ प्रान्तकी आत्मा उसे वापस मिल गयी। आशा करनी चाहिए कि बिहार और मध्यप्रान्त भी शीघ्र ही अपने यहाँ यह क़दम उठायेंगे और विधान-परिषद् भी इसी राह आयेगी। प्रान्तोंकी भाषाओंके मनके अपनी-अपनी जगह रहेंगे और हिन्दीका सूत्र उन्हे एकमे बाँधे रहेगा।

क्या हिन्दीकी विजय हिन्दुओंकी विजय है? नहीं यह साम्प्रदायिकता-के विरुद्ध राष्ट्रीयताकी स्मरणीय विजय है।

यह मिनिस्टरोंकी गैलरी है – सेक्रेट्रिएट। असेम्बली देखने आये हैं, तो आइए इसे भी देख लें। यह माननीय अर्थ-मन्त्री पं० श्री कृष्णदत्त पाली-वालका कमरा है। पालीवालजी किसी गाँवमे नीमकी छायामे बैठे हों या मिनिस्टरीकी कुरसीपर, वे जनताके आदमी है, इसलिए जनताका हर आदमी उनके पास बेधड़क आना अपना अधिकार समझता है। हम अपने अधिकारोंका कितना दुरुपयोग करते हैं, यह मैंने पालीवालजीके कमरेमे बैठकर देखा। एक देहाती सज्जन पधारे। बोले, "अमुक आदमी आपके

मकानपर ठहरे थे, वे गये या हैं ?" बेकारकी बात थी, तुनककर पालीवाल-जीने कहा, "आप यही पूछनेके लिए यहाँतक आये हैं महाराज ?" घबराकर वे बोले, "नहीं, नहीं, मैं तो एक और बातके लिए आया हूँ।" पालीवालजीने कहा, "तो वह कहिए न ?" बोले, "जनताकी इच्छा है कि आप····कान्फ़रेन्समे अवश्य पधारें।" पालीवालजीने कहा, "वह कान्फ़रेन्स तो २९ तारीखको हो चुकी और मैं उसमें भाषण भी दे आया।" कार्यकर्त्ता महाशय बड़े झेंपे। वे बेचारे बहुत दिन हुए, घरसे चले थे और यों ही माननीय मन्त्रीका समय बरबाद कर रहे थे। पालीवालजीने मुझसे कहा, "इस तरहकी बातोंमें इतना समय चला जाता है कि काम-की बातें पीछे पड़ जाती है।"

मैंने सोचा कितने गँवार लोग हैं ये, पर दूसरे दिन पालीवालजी एक डेपुटेशनसे मिल रहे थे और मैं बाहर प्रतीक्षामे था। एक एम० एल० ए० साहब आये और कमरेमे घुसने लगे। अर्दलीने कहा, "वे डेपुटेशनसे मिल रहे है।" ज़रा रुककर उन्होने कार्ड दिया। पालीवालजीने उन्हे भीतर बुलाया। एक ही मिनिटमें वे लौट आये और अर्दलीसे बोले, "तुम्हारे कहनेसे मैं रुक गया था, नहीं तो मैं किवाड खोलकर सीधा चला जाया करता हूँ!" जीमे आया कह दूँ, "हाँ साहब, आप लाट साहबके सगे साले हैं" पर चुप रहा! कई कार्यकर्ताओंको उनसे पाँच मिनिटकी बातके लिए आध घण्टा झक-झक करते देखा। मैंने सोचा, हमारे नेताओंको ग़ैरोंकी अपेक्षा अपनोंसे अधिक सहना पड़ रहा है।

मिलनेवालोंका जोर पालीवालजीके साथ सबसे ज़्यादा माननीय गृह-मन्त्री श्रीलालबहादुर शास्त्रीपर रहता है। चारों ओरके उपद्रवोकी सूचनाओंका भार ही उनपर नहीं रहता, आनेवाले डेपुटेशनोंके साथ बात-चीतका बोझ भी उन्हें सहना पड़ता है। यह बात-चीत एक ही तरहकी होती है। हम निर्दोष है, सरकारी अफ़सरोंने ठीक काम नहीं किया, सज़ा या जुर्माना माफ़ किया जाये; फिर भी वह कभी ऊबते नहीं हैं।

सबकी बात धैर्यसे सुनते हैं, अपने काग़ज़पर उनके नोट्स लेते रहते हैं। ये नोट्स हमेशा अँगरेज़ीमे होते है और पेन्सिलसे लिखे जाते हैं। इस सम्बन्धमें उनका मुक़ाबला बहुत ही कम लोग कर सकते हैं। एक दिन रातमे ग्यारह बजे मैं उनके कमरेमें गया। वे एक डेपुटेशनसे मिल रहे थे और तीन डेपुटेशन अभी और बाक़ी थे। मैने सोचा, जो आदमी प्रातः दस बजे दफ़्तर आया था, उसका तेरह घण्टे बाद भी शान्तचित्त होकर इस तरह बातें सुनना, स्वभावकी बहुत बड़ी विशेषता है। झुंझलाहट तो उन्हें कभी आती ही नहीं, इसका महत्त्व इस बातसे और भी बढ़ जाता है कि वे मन्त्रि-मण्डलके सबसे कमजोर सदस्य है। आँखें नीची, कान और उँगलियाँ सतर्क, आवाज धीमी और हृदय नतीजे निकालनेमे लीन; उनकी यह मुद्रा इतनी आकर्षक है कि देखकर भूलना आसान नहीं है।

'चन्द्रकान्ता सन्तति'मे एक मकानका जिक्र है, जो तालाबमे था। दुश्मनोंने सुरंगकी राह उसका पानी निकाल दिया और वे उसकी ओर बढ़े, पर तभी चारों ओर लम्बे-लम्बे आरे चलने लगे, जिससे वे कट गये। हमारे प्रान्तके माल-मन्त्री माननीय श्री ठाकुर हुकुमसिंहजीकी उपमा आसानीके साथ इस मकानसे दी जा सकती है। तर्कों, प्रश्नों और विवादों-के अम्बारको वे पलक मारते काट डालते है। जहाँ उन्हे नहीं जाना, आप बहलाकर वहाँ उन्हे नहीं ले जा सकते। मैं एक दिन उनके कमरेमे बैठा था। यो ही मैने पूछा, "राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघके बारेमे आपकी क्या राय है?" अपना पानका बड़ा डिब्बा खोलकर मेरे सामने करते हुए बोले, "लो पान खाओ और यह सवाल लालबहादुरजीसे पूछना!" और इतने ज़ोरसे हँसे कि मैं भी हँस पड़ा। वे आकृति और प्रकृति दोनोंमे ठाकुर हैं, मित्रों और शत्रुओं दोनोंके 'स्वागत' के लिए तैयार। १९४७ मे एक मिनिस्टरकी कुरसीपर बैठे हुए भी मुझे वे वैसे ही लगे, जैसे १९३२ में फ़ैजाबाद जेलकी नं० एक बैरकमे अपने साथ रहते हुए लगा करते थे। ठाकुर हुकुमसिंह, सरल, सुलझे, सरस, दृढ़, अपनी जगहपर खूब।

माननीय शिक्षा-मन्त्री श्री सम्पूर्णानन्दजी हमारे प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलके सबसे विद्वान् सदस्य हैं। अध्ययनशील और चिन्तनशील। उनके अध्ययन और चिन्तनके सुफल हमारे हिन्दी साहित्यकी समृद्धिके कारण बने हैं और आज हिन्दीको देशमें जो स्वरूप प्राप्त हो रहा है, वे उसका शिलान्यास करनेवालोंमें एक हैं।

पँचबँगलियाके उनके बँगलेमें ही इस बार उनके दर्शन करनेका अवसर मिला। बातको सहानुभूतिसे सुनना और उसपर तुरन्त निर्णय देना, यह उनका स्वभाव है। जब-जब मैंने उन्हे देखा है, मुझे लगा है कि उनका सारा चरित्र उनकी आकृतिमें आबद्ध है। बन्द होंठ, रहस्यके प्रति संयम, बड़ी आँखें, लक्ष्यके प्रति एकनिष्ठता और विशिष्ट मस्तिष्क ज्ञान-गाम्भीर्य-के प्रतीक-से हैं। उनसे मिलकर खुशी तो बहुत नहीं होती, पर बड़ी गहरी मानसिक सन्तुष्टि मिलती है।

काशी विश्वविद्यालयका एक विद्यार्थी जितनी बार अपने घरसे विश्व-विद्यालय गया, रास्तेमें ही अपना बिस्तर खो गया – इतना अल्हड़, इतना मस्त। वही आज हमारे प्रान्तमें नशोंका मिनिस्टर है – माननीय श्री गिरधारीलाल। लम्बे, पतले, चुस्त, सदा हँसते। बच्चोंकी तरह सूरत और साथियोंकी तरह रले-मिले। वे हमारे अपने हैं, इसलिए यदि उनका कमरा मेरे लिए विश्राम-मन्दिर रहे, तो यह स्वाभाविक है। भाई गिरधारी-लाल, हरिजन जातिके रत्न और प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलकी शोभा ही नहीं, मनुष्यताके शृंगार हैं। उनसे मिलकर मुझे हमेशा ही आत्मीयताका ऐसा रस मिला है, जो जीवनका बहुमूल्य वरदान ही है। मुझपर इस बार यह प्रभाव पड़ा कि वे अपने कार्यमें रसलीन हैं और पुराने एक्साइज़ मिनिस्टर जहाँ नशोंकी आमदनी बढ़ानेका काम किया करते थे, वहाँ वे प्रान्तसे नशों-का मुँह काला करनेमें जुटे हुए हैं।

दूसरे मिनिस्टरोंसे मिलनेका मैं प्रोग्राम बना ही रहा था कि उपद्रवके समाचार सुनकर सहारनपुर लौट आया।

मरनेके बाद मुलाक़ात

प्रेमचन्द अपने समयके सबसे बड़े हिन्दी कलाकार थे, पर वे जितने बड़े कलाकार थे, उससे भी बड़े मनुष्य थे। उनकी मनुष्यताकी कसौटी भी उनकी कला ही है।

उनके जीवनमें उन्हे समाज कुछ न दे पाया। वह उन्हे देता है, जो उससे झपट ले, पर प्रेमचन्दमे झपट तो दूर, माँग भी मज़बूत न थी। वे अनन्तदानी थे – बिना कुछ पाये भी दिये गये – दिये ही गये और इस दानमे कहीं भी उस अप्राप्तिकी रूक्षता या कटुता नहीं है। यहीं मै कहता हूँ कि उनकी मनुष्यताकी कसौटी उनकी कला है।

प्रेमचन्दका स्वभाव था – विरोधमे मौन। उनपर आक्षेप हुए – भद्दे और छिछले, पर उन्होंने कभी जवाब नही दिया। स्वयं अपनी कला, रचनावृत्तिके सम्बन्धमे भी अपना मत या दृष्टिकोण हमे दिये बिना ही वे इस दुनियासे चले गये।

उस दिन मैं उनका 'रंगभूमि' उपन्यास पढ़ रहा था कि मनमे आया – बाबूजी, एक बार मिल जायें, तो उनसे अनेक प्रश्न पूछूँ। स्वयं ही मुझे हँसी आ गयी – अब उनसे मुलाक़ात कहाँ सम्भव है।

तभी हलकी-सी एक पदचाप, कपड़ोंकी एक सरसराहट – कोई आकर मेरी चौकीके पास बैठ गया। आँखें मिलीं कि मै भौचक स्वयं बाबूजी ही थे – हाँ, प्रेमचन्द !

"ऐं ! बाबूजी, आप ! आप यहाँ कहाँ ? आपके बारेमे तो सुना था कि आप मर गये ! और सुना क्या, यह सच ही था। देश-भरके पत्रोंने इसपर श्रद्धांजलियाँ समर्पित की थीं और आपके 'हंस' ने तो अपना 'प्रेमचन्द-स्मृति-

अंक' प्रकाशित किया था, पर कहीं भी नहीं, आप तो वैसेके वैसे ही हैं। मैक्सिम गोर्की-जैसी वे ही मूँछें, वे ही रसीली और नशीली आँखें और वही हँसी। आखिर बात क्या है यह बाबूजी ?" मैंने पूछा।

वे बोले, "बात क्या होती; हमारे महान् जीवन-शास्त्र गीतामें यह लिखा है कि 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।" यानी जिस तरह मनुष्य अपने पुराने कपड़े छोड़कर नये बदल लेता है, उसी तरह आत्मा पुरानी देह छोड़कर नयी देह ग्रहण कर लेती है!

यह इस देशका दुर्भाग्य है कि अपने जीवन-शास्त्रमें इतनी बड़ी बात लिखी होनेपर भी, यहाँ मृत्युको इतना अधिक महत्त्व दिया जाता है और जीवनकी इतनी अधिक उपेक्षा की जाती है।

इधर-उधर क्यों भटकते हो, मेरी तरफ़ ही देखो। मेरे आधी सदीके जीवनमें जिन्होंने यही नहीं कि एक बार भी मेरी ओर प्रेमसे नहीं देखा, बल्कि हमेशा जो अपने खूनी पंजे मुझपर कसे रहे, वे मृत्युकी साधारण घटना होते ही बदल गये और इतने जोरसे रोये कि मेरे आत्मीयोंका विलाप भी फीका पड़ गया।"

मैंने कहा, "बाबूजी, बात यह है कि हमारे देशमें नर्सोंकी बहुत कमी है और स्यापेवालियोंकी बहुतायत है। अच्छा, यह तो बताइए कि आजकल आप कहाँ हैं ?"

बोले, "मैं अब यहाँसे दूर अन्तरिक्षमें हूँ। आज इधरसे जा रहा था कि तुम दिखाई दे गये, नीचे उतर आया। कहो, आजकल क्या पढ़-वढ़ रहे हो ?"

"आजकल मैं आपका ही साहित्य पढ़ रहा हूँ। पढ़ते-पढ़ते बहुतसे प्रश्न मनमें उठे हैं। अच्छा ही हुआ कि आप मिल गये। आज्ञा हो तो मैं कुछ पूछूँ ?" मैंने अवसरका सदुपयोग किया।

"तुम जानते हो कि मैंने अपनी आलोचनाओंका कभी उत्तर नहीं

दिया। मुझे यह अच्छा ही नहीं लगता कि मैं प्रश्नोत्तरके दायरेमें आऊँ, पर खैर तुम पूछ सकते हो। मैं यत्न करूँगा कि अपना दृष्टिकोण तुम्हें समझा सकूँ!" वे इस समय बातचीतकी मूडमें थे।

मेरा पहला प्रश्न था, "बाबूजी, आपका सबसे महान् पात्र सूरदास है। वह गान्धीजीका प्रतीक है। वह असत्यके विरुद्ध सत्यका आग्रह करता है, पर उसे सफलता नहीं मिलती, जिस कामके लिए वह अपना सब कुछ दाँवपर रख देता है, वह नहीं बनता और चारों ओर असफलताकी निराशामें उसका अन्त होता है। इस तरह सूरदासके रूपमें आपने अपने देशको निराशाका ही सन्देश दिया है।"

बाबूजी बोले, "आपकी बात सुनकर मुझे हँसी ही आयी और मैं अच्छी तरह समझ गया कि लेखकका काम एक निर्माण करना है, पर समालोचकोंका काम सिर्फ़ यह देखना है कि इस निर्माणमें कहाँ-कहाँ छेद रह गये हैं। फिर इन छेदोंको भी वे अपने ही चश्मेसे देखते हैं और कभी-कभी यह भी होता है कि हवाके लिए रखे झरोखोंको वह दीवारकी कमजोरी बताकर बन्द करनेकी भी सलाह दे देते हैं!"

"यह कैसे बाबूजी? मैंने तो कोई ऐसी बात नहीं कही।" मैंने उन्हें बीचमें ही रोका।

वे बोले, "पहली बात तो यह है कि सूरदास गान्धीजीका प्रतीक नहीं है। उसे लेकर जो लोग गान्धीजीके विचारोंका मजाक उड़ाते हैं, वह उनके दृष्टिकोणकी एकांगिता है। सूरदास असलमें मानव-जीवनका प्रतीक है और हमें अपने युद्ध और उसकी असफलता दोनोंसे यह बताता है कि मनुष्यको अन्यायके विरुद्ध न्यायपूर्वक हमेशा युद्ध जारी रखना चाहिए और उसमें हमें असफलता मिले, तो निराश नहीं होना चाहिए। सूरदासका सन्देश ही यह है कि सफलता या असफलता मनुष्यके कार्यकी कसौटी नहीं है। खिलाड़ी खेलते हैं। एक हारता है, एक जीतता है। अब यह जीत खेलकी कसौटी नहीं है। क्योंकि बहुत बार ऐसा होता है कि मूर्ख खिलाड़ी

अन्तमें एक चान्सके तौरपर जीत जाता है और बढ़िया खिलाड़ी हार जाता है। इम्तहानमें बुद्धू लड़का पास हो जाता है, तेजस्वी लड़का फ़ेल। जीवनकी दौड़में धूर्त और तिकड़मी आदमी सफल हो जाते हैं और ईमानदार पिछड़ जाते हैं। अब आप क्या कहेंगे? असलमें जीवनकी सही कसौटी यह है कि हमने अपना काम कितनी सावधानी, ईमानदारी और पूर्णतासे किया। फल तो वाक़ई एक चान्स है। दूसरे शब्दोंमें ९९ प्रतिशत जीवन है, कार्य है, कार्यकी शैली है और एक प्रतिशत उसका फल! अब इस एकको ९९ और ९९ को एक बताना या समझना क्या अर्थ रखता है? यही मेरे सूरदासके सन्देशकी व्याख्या है।"

मैंने कहा, "यह तो आपने अजीब बात कही। इस तरह तो जीवनपर निष्क्रियता छा जायेगी और कोई भी परिश्रम नहीं करेगा।"

बाबूजी तनकर बैठ गये। बोले, "यह अजीब बात नहीं है। जीवनका यह महान् दर्शन है। भारतीय विचारधारा शुरूसे ही यह व्यक्त करती है कि मनुष्य तो कर्तव्य कर्मके लिए बाध्य है, फलोंकी चिन्तामें उलझना उसका काम नहीं। फल ईश्वरके हाथ है; यानी वह एक चान्स है।

अच्छा एक बातपर और ध्यान दो। कृष्ण महापुरुष हैं और भक्तजन उन्हें साक्षात् भगवान् मानते हैं, पर उन्होंने महाभारतका जो युद्ध कराया, यदि हम उसके परिणामपर नज़र डालें, तो उन्हें देश और संस्कृतिका संहारक कह सकते हैं, पर असलमें ऐसा नहीं है। इसी तरह सूरदास असफल होकर भी महान् है और उसके मुक़ाबलेमें ईसाई मिल-मालिक जनसेवक सफल होकर भी हीन है। सूरदास मनुष्यको पराजयकी हीनता और निराशासे बचाकर जैसे अपने रोम-रोमसे पुकार रहा है – अरे पराजित और पिछड़े मनुष्य! उठ, अधिकारके लिए युद्ध कर। हार मिले या जीत बस तू युद्ध ही करता चल। युद्ध ही जीवन है, संघर्ष ही मनुष्यता है।"

"आपकी यह व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं, पर सूरदासके साथ ही आपका दूसरा महान् पात्र गोदानका नायक होरी भी

असफल ही रहा है।" भावविभोर हो मैंने कहा, "मेरी शिकायत यह है कि सूरदास और होरी हमारे आजके जीवनकी कुरूपता हमारे सामने रखते है, पर वे भविष्यका सौन्दर्य हमें नहीं दिखाते। आप हमारे सामने मौजूदा समाज-व्यवस्था तो रखते हैं, पर हम उसे कैसे तोड़ें और फिर कैसी समाज-व्यवस्था यहाँ स्थापित करें यह नहीं बताते! मैं अपनी बात इस तरह भी रख सकता हूँ कि आप हमें आजका बुरा रूप तो दिखाते हैं पर उसके विरुद्ध क्रान्तिका सन्देश नहीं देते!"

बाबूजी एकदम गम्भीर हो गये, तब संभले। कहा, "तुम्हारी बात ठीक है और मैं मानता हूँ कि उसमें सार है, पर क्रान्ति कोई तमाशा नहीं है कि जब चाहा दिखा दिया। उसके लिए वातावरण चाहिए। इस वातावरणके दो रूप हैं। पहला यह कि जनता आजकी बुरी दशाको खूब जान ले और दूसरा यह कि वह उससे ऊब उठे।

मैंने सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि और दूसरे कई उपन्यासोंमें आजकी बुरी दशा जनताके सामने रखी और गोदानमें उससे ऊब पैदा की। अब मैं ठेठ क्रान्तिपर आ रहा था कि यहाँ चला आया और वह काम बीचमें रह गया।

बात यह कि अतीतकी कली खिलकर वर्त्तमानका फूल बनती है और यही फूल भविष्यका फल है। कलीमें फूल है और फूलमें फल। इसी तरह मैंने भी वर्त्तमानकी तसवीर खींचते समय भविष्यके इंगित किये हैं। तुम्हें याद होगा – ज़मींदारीकी ज़ब्तीके बारेमें मैंने अपनी एक कहानी – 'नशा' – मे एक देहाती और शिक्षितमे यह संवाद कराया है :

"लोग कहते हैं कि यहाँ सुराज हो जायेगा, तो ज़मींदार न रहेंगे।"

"ज़मींदारोंके रहनेकी ज़रूरत ही क्या है? यह लोग ग़रीबोंका खून चूसनेके सिवा और क्या करते हैं?"

"तो क्यों सरकार, सब ज़मींदारोंकी ज़मीन छीन ली जायेगी?"

"बहुत-से लोग तो ख़ुशीसे दे देंगे। जो लोग ख़ुशीसे न देंगे, उनकी ज़मीन छीननी ही पड़ेगी।"

एक दूसरी कहानी – 'भाड़ेका टट्टू' – में उसका पात्र रमेश सोचता है : "मनुष्य क्यों पाप करता है ? इसीलिए न कि संसारमें इतनी विषमता है। कोई तो विशाल भवनोंमें रहता है और किसीको पेड़की छाँह भी मयस्सर नहीं। कोई रेशम और रत्नोंसे मढ़ा हुआ है, किसीको फटा वस्त्र भी नहीं। ऐसे न्यायविहीन संसारमें यदि चोरी, हत्या और अधर्म है, तो यह किसका दोष है ?"

मेरे साहित्यमें इस तरहकी पंक्तियाँ जगह-जगह बिखरी पड़ी हैं, इसलिए मेरे बारेमें यह कहना कि वर्त्तमानकी कुरूपताके प्रदर्शनमें लीन होकर मैंने भविष्यके सौन्दर्यकी उपेक्षा की, इन्साफ़ नहीं है – वैसे हरेक आदमी अपनी रायके लिए आज़ाद है !"

वे अब काफ़ी गहराइयोंमें थे। मैंने उन्हें एक पैड़ी और उतारते हुए कहा, "आपकी यह बात ठीक है, पर यह भी क्या ठीक नहीं है कि एक महान् कलाकार होते हुए भी आपमें प्रचारकपन इतना उग्र है कि वह आपकी क़लमपर छा गया है। आप अपने समयके जीवनके विशेषज्ञ हैं, पर क्या हमारे उस जीवनमें ग़रीबी, बेकारी, गुलामी और सामाजिक कुरीतियाँ ही हैं, प्रेम, चाह और आकर्षण आदि नहीं है। फिर भी आपने इनकी उपेक्षा ही की ?"

ज़रा उभरकर वे बोले, "यह बात कई तरहसे बार-बार दोहरायी गयी है, पर इस बारेमें मैं एक बात पूरे ज़ोरके साथ कहना चाहता हूँ, वह यह कि कला या साहित्यको मैं स्वर्गका फूल नहीं मानता – इसी धरतीकी एक चीज़ मानता हूँ और दूसरी चीज़ोंकी तरह उन्हें भी उपयोगिताकी तराजूपर तोलता हूँ। धरतीकी चीज़ें धरतीकी उपेक्षा नहीं कर सकतीं। आज हमारे चारों ओर हीनता और विषमताका जो हाहाकार मचा हुआ है, उसके बीच बैठकर प्रेमके गीत गाना न कला है, न साहित्य –

वह जीवनका कोढ़ है और मैंने अपने उपन्यासोंमें उसे कोढ़के रूपमें ही चित्रित किया है। इससे मेरे उपन्यासोंका आकार बढ़ गया है और विवरण दोहरे हो गये है। मेरे कला-पारखी आलोचकोंको इससे खेद भी हुआ है, पर मैं क्या करूँ। मैं मजबूर हूँ कि सत्यकी ओरसे आँखें नहीं मूँद सकता।"

मैंने नम्र होकर कहा, "आपकी इस भावनाके प्रति मैं हार्दिक सम्मान प्रकट करता हूँ और मुझे यह स्वीकार करनेमें ज़रा भी झिझक नहीं कि भावी पीढ़ियाँ राष्ट्रके नव-निर्माताओंकी पंक्तिमें आदरके साथ आपका नाम स्मरण करेंगी, पर इस दिशामें मुझे एक निवेदन अवश्य करना है। वह यह कि आपके पात्र कभी-कभी खूब छलाँगें मारते हैं।"

हँसकर बोले, "कैसी छलाँगें? ज़रा समझाओ, तो मैं उसपर कुछ कहूँ।"

मैंने कहा, "आपके पात्रोंमें बहुत बार क्रम-विकास नहीं होता। अभी जो डरपोक है, वह पल-भर बाद साहसका अवतार हो जाता है। जेवरों-पर जान देनेवाली स्त्री कुछ ही दिनोंमें ऐसी निखर आती है कि रूसी क्रान्तिके महिला-चरित्र भी मात मान जाते है। घटनाओंके क्रम-विकासमें भी यही बात है। छोटी-सी घटनाका आप इतना बड़ा तूमार बाँधते है कि चौराहोंपर तमाशा दिखानेवाले जादूगर भी सिर झुका लेते है। इसे ही मैं छलाँग कहता हूँ।"

"ओह, यह मतलब है आपका?" वे बोले, "ये दो अलग-अलग बातें हैं, इनका उत्तर भी मैं अलग-अलग दूँगा, मानव-पात्रोंमें यह परिवर्त्तन वह चीज़ है, जिसे मैं मनुष्यमें देवत्व कहता हूँ और देवत्व चमत्कारिताका भण्डार है, इसलिए एक पात्रमें यह सहसा परिवर्त्तन कोई असम्भव बात नहीं। वाल्मीकिको डाकूसे ऋषि होनेमें कितनी देर लगी। फिर मेरे ही पात्र बदल जाते हैं, तो क्या बुराई है। दूसरी बातके बारेमें मुझे यह कहना है कि परिणामकी यह अतिरंजना – उसे बढ़ाकर कहना – समाज-की उस बुराईको जिसके ख़िलाफ़ कहानी खड़ी है, ऐसा कुरूप कर देता है

कि पाठकपर प्रभाव पड़े।"

मैंने बीचमें ही कहा, "पर इसमें यथार्थता तो नहीं रहती बाबूजी !"

"तो यथार्थको हूबहू खींचकर रख देना ही तो कला नहीं है।" वे बोले, "मैं पूरे ज़ोरसे कहता हूँ कि केवल यथार्थकी नक़लका ही नाम कला नहीं है। फिर यथार्थका यथार्थ रूप दिखानेसे फ़ायदा ही क्या ? वह तो हम अपनी आँखोंसे देखते ही हैं। कुछ देरके लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारोंसे दूर रहना चाहिए, नहीं तो साहित्यका मुख्य उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है।"

मैंने ज़रा व्यक्तिगत होते हुए पूछा, "यह आश्चर्यकी बात है कि आप ईश्वरमे विश्वास नहीं करते पर आपके साहित्यमें मानवमें देवत्व-दर्शनके सचमुच अनेक प्रयत्न हैं। यह क्या बात है ?"

बहुत ज़ोरसे हँसे और तब बोले, "ईश्वरमें विश्वासकी ज़रूरत पड़ती ही उन्हें है, जो मानवमें देवत्वका दर्शन नहीं कर सकते। बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता। उसमे कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा है; यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। मैंने अपनी क़लमसे इस सत्यको ही कहीं-कहीं प्रकाशित कर दिया है।"

"आपने बड़ी कृपा की जो मेरे प्रश्नोंके उत्तर दिये। यदि आप एक और प्रश्नका भी उत्तर दें तो आभारी हूँगा।" नये प्रश्नके लिए मैंने ज़रा जगह बनायी तो सरस होकर बोले,

"मिश्रजी, आप आभारी न भी हों तो भी उत्तर तो दूँगा ही, पर पूछिए संक्षेपमें, क्योंकि मेरे जानेका समय अब हो गया है।"

मैंने तीरको आलपीन बनाकर पेश किया – "कुछ लोग कहते हैं कि आपने 'रंगभूमि'का प्लाट थैकरेके 'वैनिटि फेयर'से लिया है। क्या यह ठीक है ?"

उनके चेहरेपर गम्भीरता बरस पड़ी। बोले, "मुझे 'रंगभूमि'का बीजांकुर एक अन्धे भिखारीसे मिला, जो मेरे ही गाँवमें रहता था। एक

ज़रा-सा इशारा, एक ज़रा-सा बीज लेखकके मस्तिष्कमें पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उसपर आश्चर्य करने लग जाते हैं। इंगलैण्डके प्रसिद्ध उपन्यासकार डिकेंसने शिकरम गाड़ीके मुसाफ़िरोंकी ज़बानसे 'पिकविक' नाम सुना और बस अपनी अमर हास्य कृति 'पिकविक-पेपर्स' की रचना की। श्रीमती जॉर्ज इलियटने अपने बचपनमें एक फेरी-वाला कन्धेपर थान रखे देखा था। इसीपर उन्होंने 'साइलेन्स मार्नर' नामक उपन्यास रचा। मर्मस्पर्शी रचना 'स्कारलैट लेटर' के बीज हाथार्न-को एक पुराने मुक़दमेकी मिसलसे मिले। दो सहेलियोंकी इस बहससे कि उपन्यासकी नायिका सुन्दर हो या नहीं 'जेन आयर' की सृष्टि हुई।"

ज़रा रुककर बोले, "किसी पुस्तकसे नयी रचनाकी नींव मिल जाना भी कोई असाधारण घटना नहीं है। हालकेनने लिखा है कि मुझे बाइबिलसे प्लाट मिलते हैं। बेलजियमके विख्यात नाटककार मेटरलिंकका 'मोमाबोन' नाटक ब्राउनिङ्की कवितासे प्रेरित है और 'मेरी मैगडालीन' एक जर्मन कवितासे। अगर कोई यह दावा करे कि मैं वह लिखूँगा, जो कहीं किसीने किसी भी रूपमें कभी नहीं लिखा, तो मेरा ख़याल है कि उसकी रचना बस अद्भुत ही होगी।"

यह सब उन्होंने इतने भावावेशमें कहा कि मैं भावविभोर हो गया। ज़रा सँभला तो देखा, चौकीपर मेरे सामने 'रंगभूमि' खुली हुई थी — बाबूजी न थे। क्या वे आये थे ? क्या वे चले गये ?

लखनऊ काँग्रेसके उन दिनोंमें

किसी तरह मैं ८ अप्रैल १९३६ को सुबह लखनऊ पहुँच गया। मोती-नगर, धूलका अक्षय भण्डार! ओह, प्लूरिसीका यह पुराना बीमार यहाँ कैसे जीयेगा! अचानक हमारे ज़िलेके यशस्वी राष्ट्रकर्मी वैद्य श्री रतनलाल 'चातक' मिल गये। वे पास ही आर्यनगरके एक मकानमे ठहरे हुए थे। वहाँ डेरा जमाया। लखनऊ काँग्रेस और चातकजीका साथ; सौभाग्यकी बात थी। चातकजी सिपाही भी हैं और साहित्यिक भी, मर मिटनेवाले बलिपन्थी, और मनहूसियतसे कोसों दूर, सरसताके स्रोत!

प्रयागसे जवाहरलालजी आदिके आनेकी खबर गुप्त रखी गयी थी, पर हमें पता चल गया। स्टेशन पहुँचे; देखा पण्डितजी दूसरे नेताओंके साथ थर्ड क्लॉससे उतर रहे है। साधारण धोती, चप्पल, कुरता और वही मुसलमानी समयकी बण्डी, जिसे इसी जवाहरलालके नामसे इस युगमे 'जवाहर बण्डी' का सुन्दर नाम मिल गया है। फ़ौरन लाहौर काँग्रेसका राष्ट्रपति जवाहर याद आ गया। वह सुरमई अचकन, वह चूड़ियोंदार खिचा हुआ पायजामा और उसे ही लेकर लाहौर पहुँचनेवाली वह स्पेशल ट्रेन; कितना परिवर्तन हुआ है इस आदमीमें!

भारतमे समाजवादके प्रवर्तक पण्डित जवाहरलालपर, मैंने देखा, गान्धीवादका प्रभाव झलक रहा है। बापू भी चाहते है मुसाफ़िरोका पूरा सुभीता और नेहरूजी भी, पर क़ानून हमारे हाथोंमे नहीं। इसलिए नही सम्भव है आज यह सब, तो हम अपने प्राप्त सुभीतोंको 'स्वयं' परित्याग कर अपने समाजके नीचेके स्तरमें मिल तो सकते ही हैं। मुझे दीखा, दोनों महापुरुष एक ही मोटरमें बैठे जा रहे हैं, फ़ोर्डकी मोटरमे भी और समाज-

व्यवस्थाकी मोटरमें भी। दोनोंके लक्ष्यमें भेद नहीं है और अभी तो रास्तेमें भी भेद नहीं है।

राष्ट्रपतिका जुलूस

चारों ओर पैदल जुलूसकी चर्चा थी। जवाहरलालजीने घोड़े या गाड़ीपर बैठनेसे इनकार कर दिया था, पर समझमें ही न आता था कि कैसे कण्ट्रोल होगा यह। पिछले आठ वर्षोंमें सैकड़ों जुलूस निकाले हैं। ओह, जनताका वह रेला! क्या वह कण्ट्रोलकी चीज़ है और वह भी सिर्फ ज़बानसे! स्वयंसेवक दलके एक कप्तानपर मैंने अपनी बेचैनी प्रकट की। वे तुनककर बोले, "क्यों, कण्ट्रोलमें क्या आफ़त है? जैसे हिटलर-मुसोलिनीका जुलूस निकलता है, वैसे ही मिस्टर नेहरूका क्यों नहीं निकल सकता!" मैंने ग़ौरसे उनकी तरफ़ देखा और अपने दिलमें उनके जोशकी कद्र की, पर मेरी बेचैनी ज्योंकी-त्यों रही।

साढ़े पाँच बजे जुलूस निकलना था, पर चार बजेसे पहले ही अमीनाबादका वह विशाल प्रांगण खचाखच भर गया। कितने आदमी थे? क्या कहूँ, बस आदमी-ही-आदमी थे – चौकमें, पॉर्कमें, छतपर, छज्जोंपर, यहाँ तक कि खम्भोंपर, वृक्षोंपर भी। वहाँ सिर्फ़ दो ही आदमियोंकी माँग थी – पण्डित जवाहरलाल और गजरेवाला। कितने भी दामपर गजरा बिक सकता था और कितने भी धक्के खाकर जवाहरलालकी एक झाँकी ली जा सकती थी। भीड इतनी और ऐसी कि पास खड़े एक बुजुर्ग मुसलमानने कहा, "अल्लाह, तेरी क़ुदरत कि बड़े-बड़े लाटों और बादशाहोंके जुलूस यहाँ निकले, पर कभी ऐसी रौनक नहीं हुई!"

जुलूस शुरू हुआ। कानपुरके श्री रघुबरदयालु गुप्त और उनके दो शिष्य घोड़ोंपर चढ़े आगे-आगे रास्ता कर रहे थे, पर वे रास्ता करते और वह काईकी तरह भर जाता! बात साफ़ थी कि लोग जवाहरलालको देखने आये थे और वे दीख न रहे थे। मुश्किलसे ३००-४०० गज चलकर

पण्डितजी अमीनाबादमें आये। बस यहाँ सब नियम टूट गये और भीड़के रेलेमें पण्डितजी कुचले-से जाने लगे। झुँझलाकर उनका चारों तरफ़ देखना बड़ा मधुर था, पर इसे कौन देखता ?

स्वयंसेवकोंकी दशा बड़ी दयनीय थी; जैसे हारी हुई फ़ौजके सिपाही जान लेकर भागे जा रहे हों। स्वयंसेवक और उनके दलपति कुछ सचेष्ट रहते, तो पण्डितजीको लाठियोंके घेरेमें रख सकते थे और अमीनाबादसे मोतीनगर बहुत दूर नहीं था; पूरे रास्ते मोटे रस्सोंसे रास्ता बनाया जा सकता था। ख़ैर, इस घटनाने बताया कि काँग्रेसको एक स्थायी, सुसंगठित स्वयंसेवक दलकी कितनी आवश्यकता है और हमारे राष्ट्रीय नेताओंको इधर कितना ध्यान देना चाहिए।

प्रायः पचास क़दम चलते ही पण्डितजीको घोड़ेपर चढ़ना पड़ा। इससे भीड़ काफ़ी शान्त हुई। गौर मुख, प्रसन्न और नम्र मुख-मुद्रा, सफ़ेद मोती-से गहरे और सधी हुई सवारी; देखने ही लायक़ दृश्य था। चारों ओरसे गजरे बरस रहे थे, पर पण्डितजी सचेष्ट थे कि कोई गजरा नीचे न गिरे और किसी भाई-बहनके हृदयको ठेस न लगे।

एक स्थानपर पण्डितजीके परिवारके लोग बैठे जुलूस देख रहे थे। उन्हें देखकर मुझे लाहौरकी वह दूकान याद हो आयी, जहाँ बैठकर १९३० में स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू, श्रीमती स्वरूप रानी नेहरू और श्रीमती कमला नेहरूने जवाहरलालजीका वह शाही जुलूस देखा था। जवाहरलाल-का घोड़ेपर-से सिर झुकाकर माता-पिताकी वन्दना, माता-पिताके चेहरेका उल्लास, हृदयके बादशाह मोतीलालजीका वह अशर्फ़ी बिखेरना, जवाहर-लालकी वह मोठी झुँझलाहट, कमला नेहरूकी वह गर्व-भरी मुखमुद्रा, पति-पत्नीकी आँखों-ही-आँखोंमें होनेवाली वे बातें और चारों ओर बिखरनेवाली वह मन्द-मधुर मुसकान; याद करके जी तड़प उठा ! ओह, नेहरू परिवार-का बलिदान !!

विषय-निर्वाचिनी समिति

१० तारीखको दोपहर दो बजेसे विषय-निर्वाचिनी समिति (सब्जेक्ट कमेटी) की बैठक हुई। श्री राजेन्द्रप्रसादजीने पण्डित जवाहरलालजीको चार्ज दिया। लाहौरमें पण्डितजीने यही चार्ज स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरूसे लिया था और मातास्वरूप रानीने उनका माथा चूमकर, उनकी बलैयाँ ली थीं, जिसे देखकर हज़ारों आँखें तर हो गयी थीं, पर आज बूढ़ी माताका हृदय जर्जर है, व्यथित है – पतिके अभाव और बहूकी मृत्युसे – वे समारोहमें कैसे भाग लेतीं!

पण्डितजीने जब धन्यवादमें कहा, "मैं (कमला नेहरूकी विदेशमें मृत्युके बाद) सान्त्वनाके लिए भारत माताकी गोदमें आया, एक बालककी तरह। आपका प्रेम पाकर मैं कृतार्थ हुआ। फिर भी भीतर कुछ सूना-सूना लगता है।" सुनकर सहृदयोंके हृदय द्रवित हो गये।

आरम्भमें ही एक संशोधन लिखनेके लिए उन्हें काग़ज़-पेन्सिलकी ज़रूरत पड़ी, पर मंचपर वह था नहीं। पण्डितजीने कहा, "कैसा इन्तज़ाम है रिसैप्शन कमेटीका! है कोई यहाँ रिसैप्शन कमेटी (स्वागत-समिति) का मेम्बर?" कोई वहाँ न था, बोले, "डाँट-फटकार सुननेके लिए किसी-को तो रहना ही चाहिए।"

बात यह है कि पण्डितजी स्वयं इतने सावधान हैं – अपना छोटेसे छोटा काम इतनी सतर्कतासे करते हैं, ज़रा भी कमी वे बरदाश्त नहीं कर सकते। उनकी स्फुरणा और सन्नद्धता भी असाधारण है। उनके आसनके सामने बैठे-बैठे बोलनेका माइक लगा था। राजेन्द्रबाबूने उनसे उसपर बोलनेको – बैठे-बैठे ही बोलनेको – कहा, तो बोले, "बैठकर! बन्धनमें बोलना तो मुझसे नहीं हो सकता!" बाप रे, बन्धनोंका इतना तीखा विद्रोही यह जवाहरलाल!

वे बराबर ऊँचे लाउडस्पीकरपर, खड़े होकर ही बोले। किसी

वक्ताका नाम वे पुकारते और उसके आते ही लाउडस्पीकरका मुँह खुद वक्ताकी तरफ़ कर देते। वक्ताको मशीनसे जितनी दूर खड़ा होना चाहिए, उसमें ज़रा भी फ़र्क़ रहता, तो उसे हाथसे ठीक जगह खड़ा करते। लाउडस्पीकरवालोंका आदमी इस कामके लिए नियुक्त था, पर जबतक वह उठता, पण्डितजी अपना काम पूरा भी कर डालते!

उनकी कमरके पीछे एक मोटा और लम्बा तकिया था – कमरके सहारेके लिए, पर जवाहरलालको 'कमरके सहारे' की ज़रूरत कहाँ है? वे सदा उसके ऊपर बैठते थे – तनकर। हरारतकी हालतमें एक दिन वे साढ़े आठ घण्टे बैठे; बैठे क्या, लगभग खड़े ही रहे। तीन दिन सब्जेक्ट कमेटी और दो दिन खुला अधिवेशन; इस तरह पूरे पाँच दिन मैंने उन्हें बहुत नज़दीक और गहराईसे देखा, पर इस इतने लम्बे समयमें उन्होंने दो बारसे ज्यादा जमुहाई नहीं ली। ऐसा सन्नद्ध है हमारा जवाहरलाल!

बोलनेवालेके एक-एक शब्दपर वे ध्यान रखते थे। वह ज़रा बहका कि वे तमककर उठे, जैसे शेर अपनी गुफासे छलाँग मारकर निकले। शब्दोंके मायाजालमें वे नहीं फँसते, न जनसाधारणको फँसने देना चाहते हैं। किसान और मज़दूरोंके प्रतिनिधि उनकी संस्थाओंकी मार्फ़त लिये जायें, श्री अच्युत पटवर्धनके इस संशोधनका समर्थन करते हुए श्री विश्वम्भरदयालु त्रिपाठीने कहा, इस प्रस्तावमें एक 'प्रिएम्बल' है और उन्होंने बार-बार इस 'प्रिएम्बल' शब्दको दोहराया। पण्डितजीने फ़ौरन टोका, "यह 'प्रिएम्बल' क्या होता है, मेरी कुछ समझमें नहीं आता। वाक़ई क़ानूनी दिमाग़ बहुत तेज होता है।"

श्रीमती पार्वती देवी बोलने आयीं – "मुझे कोई स्पीच नहीं देनी है, पर एक घटना हो गयी है....." पण्डितजीने फ़ौरन टोका – "लेकिन उस घटनाका सम्बन्ध इस प्रस्तावके साथ हो।"

अनुशासन जवाहरलालजीकी अपनी विशेषता है। क्या मजाल कि कोई ज़रा भी चूँ कर सके। श्री नरीमान बोल रहे थे कि श्रीमती कमला

देवी चट्टोपाध्यायने उन्हें बीचमें टोक दिया। फिर क्या था, पड़ी फटकार "ऑर्डर, ऑर्डर! आप कौन हैं रूल करनेवाली? मैं जो यहाँ हूँ।"

बात-बातमें झुँझलाहट, हर झुँझलाहटपर एक झपट और हर झपटपर एक मीठी मुसकान; एक-एक साँसमें तीन-तीन झाँकियाँ और मामला समाप्त – सोचता हूँ जवाहरलालके व्यक्तित्वकी यह भी एक बड़ी खूबी है।

श्री अमृतलाल सेठको पुकारा गया संशोधनका समर्थन करने, पर वे पेश करने लगे एक नया संशोधन। पण्डितजीने नये संशोधनका नोटिस चाहा, तो उन्होंने कहा, "मैं कल अपना संशोधन कृपलानीजीको दे चुका हूँ, इसलिए मैं उसे पेश कर सकता हूँ।"

अध्यक्षका यह प्रतिवाद और फिर नेहरू अध्यक्षका! पण्डितजी तमककर इतनी तेजीसे उठे और उनकी तरफ बढ़े कि सचमुच वे घबरा गये और उलटे पैरों (जरा भी अतिशयोक्ति नही) भागकर मंचसे नीचे कूद गये। विख्यात पार्लामेण्टेरियन श्री सत्यमूर्तिने इस व्यवहारका बहुत फर्राटेदार प्रतिवाद किया और अन्तमें कहा, "अध्यक्षको जेण्टलमैन तो होना ही चाहिए।"

मामला संगीन हो गया। सबके मनमें एक ही प्रश्न – अब पण्डितजी क्या करेंगे? क्या कहेंगे? पण्डितजी उठे, मुसकराये और बोले, "इस हाउसमें मिस्टर सत्यमूर्ति ही सबसे बड़े जेण्टलमैन हैं और मैं तो बिलकुल जेण्टलमैन (सभ्य आदमी) नहीं हूँ।"

श्री सत्यमूर्तिने अपने ढंगपर उन्हें असभ्य कहा था और उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया। स्थिति यह कि अब हाउस इसे स्वीकार कर ले, तो विधानकी मर्यादा यह कि जवाहरलालजी तुरन्त त्यागपत्र दें और अपना आसन खाली करें। विधानशास्त्री श्री सत्यमूर्तिने खड़े होकर कहा, "हमारे अध्यक्ष निश्चित रूपसे जेण्टलमैन हैं।" श्री अमृतलाल सेठने भी उन्हें जेण्टलमैन कहा। इसपर पण्डितजी बहुत जोरसे हँसे और तब बोले, "नही

मैं जेण्टलमैन नहीं हूँ और यही एक दिक़्क़त है।" उनकी हँसीमें सारा विरोध आप ही आप घुल गया, बह गया।

जवाहरलाल चौकन्ने इतने कि प्रतिनिधियोंकी जेब तककी ख़बर रखें। प्रस्ताव-पत्र कम थे और प्रतिनिधियोंमें माँग थी, पण्डितजीको एक पत्र मिला। उन्होंने कहा, "मेरे पास एक है, जो चाहें ले लें।" एक प्रतिनिधिने माँगा, तो बोले, "आपके पास तो है वह।" प्रतिनिधिने कहा, "वह दूसरा है।" पर वे कहाँ चूकनेवाले। बोले, "नहीं, वही है। ज़रा देखिए तो महाशय!" वाक़ई यह वही पत्र था। कमाल यह कि पण्डितजी और प्रतिनिधिके बीचमें प्रतिनिधियोंकी कई क़तारें थीं।

तुरन्त निर्णय जवाहरलालजीके सभापतित्वकी विशेषता थी। डॉक्टर पट्टाभि सीतारमैयाने काँग्रेस-वर्किङ् कमेटीके पदग्रहण-सम्बन्धी प्रस्ताव-का विरोध किया, यद्यपि वे ख़ुद भी वर्किङ् कमेटीके मेम्बर थे। उनका विरोध परम्पराके विरुद्ध था। श्री पुरुषोत्तमदास टण्डनने इसका प्रतिवाद किया। श्री पट्टाभिने मामला प्रधानपर छोड़ दिया। सबने आश्चर्यसे सुना कि पण्डितजीका निर्णय परम्पराके विरुद्ध है – पट्टाभिके अनुकूल! इसमें सन्देह नहीं कि यह निर्णय पण्डितजीके सुलझे हुए मस्तिष्कका प्रतिबिम्ब था। इसके बाद तो उन्होंने दो-तीन बार प्रस्तावपर बहससे पहले ही अपनी सम्मति प्रकट कर – प्रस्तावके विरुद्ध अपनी निजी सम्मति बताकर परम्पराको भंग किया। सचमुच यह परम्परा-भंग बहुत सुन्दर था; जैसा कि कलकत्ता-काँग्रेसमें स्वयं जवाहरलालजीने एक बंगाली युवकके आक्षेप करनेपर कहा था कि कभी-कभी बन्धनहीन हो जाना भी सभा-पतिकी सुन्दरता है। जवाहरलालजी तब काँग्रेसके जनरल सेक्रेटरी थे और एतराज़ काँग्रेस-अध्यक्ष श्री मोतीलाल नेहरूपर किया गया था।

पण्डित जवाहरलालके खड़े होनेकी भी एक अदा थी। शरीर तना हुआ, पैर ठुके हुए-से, बायाँ हाथ बण्डीकी जेबमें और दायाँ गलेके बटनपर या फिर लाउडस्पीकरके चक्करको पकड़े हुए।

अगरेज़ीका सब्जेक्ट कमेटीमें काफ़ी ज़ोर था। कुछ लोग तो शौक़िया भी अँगरेज़ी बोलते थे। पूनाके श्री शंकरराव देवने एक उपसमितिके बारेमें हिन्दीमें कुछ पूछा। कृपलानीजीने उसका अँगरेज़ीमें जवाब दिया। स्वामी सहजानन्द सरस्वतीके टोकनेपर कृपलानीजीने भूल स्वीकार की। पण्डितजीने श्री देवसे पूछा, "आप हिन्दीमें बोलिएगा ?" उत्तर मिला – "हाँ हाँ, ये तो जहाँतक होते मेरी टूटी-फूटी हिन्दीमें ही बोलते !" कितनी मधुर थी यह टूटी-फूटी हिन्दी !

पण्डितजी साधारणतया हिन्दीमें ही बोले। पद-ग्रहणपर उन्होंने अपनी राय दी, तो पहले हिन्दीमें और पीछे अँगरेज़ीमें। प्रस्ताव तो सभी अँगरेज़ीमें थे और उनका अनुवाद भी न किया जाता था। पहले ही दिन शामको मैंने टण्डनजीसे इसकी शिकायत की, "एक तरफ़ तो आप काँग्रेस-अधिवेशनमें ज़्यादासे ज़्यादा किसानोंको बुलाते हैं और दूसकी ओर यह उम्मीद करते हैं कि हरेक प्रतिनिधि अँगरेज़ी जाने।" टण्डनजीने पण्डितजीसे कहा, इसके बाद बराबर अनुवाद हुआ और खुले अधिवेशनमें भी यह प्रथा चालू रही।

आगामी चुनावोंके बाद काँग्रेस पदग्रहण करे या नहीं, यही इस अधिवेशनका मुख्य प्रश्न था। काँग्रेस हाई कमाण्डका मूल प्रस्ताव था कि चुनाव लड़ा जाये, पर पदग्रहण करने न करनेके बारेमे अभी विचार न किया जाये। गरम दल चाहता था कि पदग्रहण न करनेकी बात साफ़ कह दी जाये और नरम दल चाहता था कि पदग्रहण करनेकी बात साफ़ कह दी जाये। यही टक्कर थी।

इस प्रस्तावपर खूब गरमी। बहुत-से संशोधन आये, बहुत-से भाषण हुए, पर दो भाषण विशेषतः उल्लेखनीय थे। पहला श्री आचार्य नरेन्द्रदेवका प्रस्तावके विपक्षमें और दूसरा श्री राजेन्द्रप्रसादका पक्षमें। हाँफते-काँपते-से आचार्यजी माइकपर आये। शरीरमें हड्डियोंका एक ढाँचा, दमेके राक्षसी रोगसे, जर्जर, चेहरेपर मुर्दनी छायी हुई। उनका लखनऊ

आना ही ज़्यादती थी, इतनेपर भी और इस दशामें भी, फिर बोलना। श्री जयप्रकाशनारायणने कहा, "बैठकर बोलिए।" उन्होंने मना किया, तो मुहब्बतसे झिड़ककर जयप्रकाशजीने कहा, "तो मत बोलिए।" इस झिड़कीमें कितना आदर था, कितना अपनापन, कितनी मिठास।

कुरसी आयी, तो पण्डितजीने दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें उसपर बैठा दिया। मेरे पास ही एक अँगरेज़ पत्रकार बैठा था। मुँह बनाकर बोला, "ओह, बेचारा वक्ता!" उसका मतलब था कि यह बीमार क्या बोलेगा। मैंने उससे कहा, "कृपया अपने कानोंको सँभालें।" आचार्यजी बोले, तड़पकर बोले, तड़पाकर बोले। शरीर भग्न, पर ऊँची आवाज़; हृदय जो उछलता हुआ है। क्या फ़सीह उर्दू, सरिताकी लहर-सा प्रवाह, विचारोंकी कड़ियाँ और भावनाओंकी लड़ियाँ कि एकके बाद एक पिरोई हुई – ख़यालात और जज़्बातका एक अजब मजमुआ। सचाई यह कि भाषा और प्रवाहकी दृष्टिसे पूरी लखनऊ काँग्रेसमें यही सर्वोत्तम भाषण था। उस अँगरेज़ पत्रकारने कहा, "कुछ-कुछ समझा, पर बहुत सुन्दर, जैसे झरना!"

इस प्रस्तावकी बहसमें वर्किङ् कमेटीपर बहुत आक्षेप हुए। उसे खुले शब्दोंमें बेईमान और प्रतिगामी कहा गया। इस सबका जवाब देनेको राजेन्द्रबाबूने जो भाषण दिया, उसमें ओज भी था और चोज़ भी। प्रवाह ऐसा कि कानोंमें मिश्री घुले और प्रभाव ऐसा कि तख़्ता उलट दिया। समाजवादियोंको उम्मीद थी कि प्रस्ताव पास भी होगा, तो पाँच-सात वोटसे, पर बहुत अधिक वोटोंका अन्तर रहा। बम्बईके एक समाजवादी नेताने मुझसे कहा, "ग़ज़ब कर दिया आज राजेन्द्रबाबूने!" सचमुच प्रभावकी दृष्टिसे यही काँग्रेसका सर्वोत्तम भाषण था। डॉ० पट्टाभि इस प्रस्तावपर तटस्थ रहे, यह एक ख़ास बात थी।

सब्जेक्ट कमेटीमें होनेको तो बहुत थे, पर उल्लेखनीय हैं : सर्वश्री अच्युत पटवर्धन, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, डॉ० पट्टाभि, सेठ गोविन्ददास,

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', स्वामी सहजानन्द, सम्पूर्णानन्द, अवधेश प्रताप सिंह, वेंकटाचलम् चेट्टी, साम्बमूर्ति, अमृतलाल सेठ, डॉक्टर खान साहब, सत्यमूर्ति, डॉ० प्रफुल्लचन्द्र घोष, आचार्य कृपलानी, राजेन्द्रबाबू, जयरामदास दौलतराम, शंकरराव देव, विश्वम्भर दयाल त्रिपाठी और टण्डनजी।

डॉक्टर पट्टाभि अपनी जगह निराले। नीची धोती, ऊँचा कुरता, मद्रासी ढंगका तहाया हुआ साफा कन्धेपर और विशाल गंजी खोपड़ी। देखनेमें शान्त और बोलनेमें ऐसे, जैसे टूटी हुई बाँधका झरना। जो बात दूसरे घण्टे-भरमें कहे, वे बत्तीस मिनिटमें। अध्ययनके भण्डार और विधान-के पण्डित, काँग्रेसमें इस युगके श्री विजयराघवाचारी।

श्री पटवर्धन, देखनेमें सरल, बातचीतमें सरस और भाषणमें ओजस्वी। स्फुरणाकी मूर्ति, हर बातमें सवाल, हर सवालपर जवाब; जैसे केन्द्रीय असेम्बलीमें सत्यमूर्ति!

श्री राजेन्द्रबाबू, सीधे-सादे, जितने लम्बे, उससे ज्यादा गहरे। स्थिर अपने स्थानके लिए निश्चिन्त। हर सवालके लिए तैयार; पर हर उक्ति मीठी मुसकराहटसे सनी। जनताकी आँखोंकी ठण्डक और जनतामें-से ही एक, पर अत्यन्त सुलझे हुए दिमागके आदमी। अपनी धुनके धुनी और अपनी बातके पक्के। काँग्रेसमंचपर गान्धीजीकी व्यवहार-पद्धतिके संरक्षक और प्रभावपूर्ण प्रतिनिधि।

डॉक्टर खान, सिलबिल्ला-सा भरे बदनका पठान। कपड़ोंमें सादा, चेहरेपर बालकों-सी सरलता। सबसे मिलनेको तैयार, सबका अपना ही। खरा सिपाही, कम बोलनेवाला, पर करारी बातका कहैया और देशकी गुलामीको हर घड़ी महसूस करनेवाला।

सत्यमूर्ति, साधारण धोती, आधी आस्तीनकी कमीज, गलेमें साफ़ा, नंगे पैर, नंगे सिर, बिलकुल काशीके किसी मन्दिरका पुजारी-सा। अपने अखबारोंमें छपे फ़ोटोसे बिलकुल अलहदा। अँगरेजीका अच्छा वक्ता, पार्लामेण्टरी टोन, गोलीकी तरह सवालका जवाब देनेवाली और निडर।

नम्बर एकका एडवोकेट और नम्बर तीनका काँग्रेसी – बोलनेमें दस साल आगे, पर स्पिरिटमें इतना ही पीछे, कहूँ बहसमें भारी, पर अनुभूतिमें हलका !

जयरासदास दौलतराम; स्वस्थ, सुन्दर, सादे, वाक्संयमी और गम्भीर। सदा सन्नद्ध, नेता भी और कार्यकर्ता भी।

भाषण गिनतीमें बहुत थे, पर 'टु दि प्वॉइण्ट' बहुत कम। ज़्यादातर प्रतिनिधि सिर्फ़ बोलनेके लिए, लोगोंकी आँखोंमें आनेके लिए बोलनेवाले – हर बातपर घण्टों बोलनेको तैयार।

खद्दरके विरोधमें एक संशोधन आया। बिहारके किसान नेता श्री स्वामी सहजानन्द सरस्वतीने समर्थन किया। बोले, "मेरे किसान साथी कहते थे कि काँग्रेसमें जानेको खादीवेशके लिए चौदह रुपये चाहिए। लोगोंने मुझसे कहा कि हम लँगोटी लगाकर काँग्रेसके खिलाफ़ एक प्रदर्शन करना चाहते हैं। कहाँसे लायें खादी ?"

विहारके ही एक प्रतिनिधि इसपर बहुत झल्लाये और बोले, "उन मूर्खोंको लँगोटी लगाकर प्रदर्शनकी बात तो सूझी, पर सूत कातनेकी नहीं। जिन लोगोंको जिस 'वाद' का ज्ञान नहीं, वे उसपर पता नहीं बकवाद क्यों करते हैं ! एक खादी भक्तके नाते कड़वी होनेपर भी मुझे उनकी बात बहुत पसन्द आयी।

सब्जेक्ट कमेटीके पण्डालमें मंचके पीछे कुरसियोंकी एक क़तार थी। उसके अधिष्ठाता थे मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, सरोजिनी नायडू, भूलाभाई देसाई और डॉ० अन्सारी। आज़ाद साहब बराबर सिगरेट पीते रहते और धुएँका उपहार मिलता रहता भारत-कोकिलाको ! भूलाभाई बराबर इस-उससे बातें करते और खूब हँसते, सरल और सरस। केन्द्रीय असेम्बलीके, सर एन० एन० सरकार, सर हेनरी क्रेक और सर जफ़रुल्ला, तीन-तीन सरोंके दिलकी धड़कनको बन्द कर देनेवाला यह महारथी निजी जीवनमें कितना सरल है, यह देखकर दिलको एक मीठा मानवीय स्पर्श

मिलता है। राजनीतिके बीचमें रहकर भी मौलाना और सरोजिनीकी राजनीतिके प्रति निर्लिप्तता उनकी ज़िन्दगियोंका करिश्मा है।

श्री ब्रिजलाल बियाणीने बरारका नाम विदर्भ रखनेका प्रस्ताव किया। प्रतिनिधि समझे ही नहीं कि विदर्भका क्या अर्थ? अपने घरकी खबर किसीको हो, तो वह विदर्भको समझे। बहुतोंसे विदर्भ शब्दका उच्चारण ही न होता था। अँगरेज़ीमें उसके स्पेलिङ् बताने पड़े, फिर भी काम न चला। डॉक्टर अन्सारीने अपनी जगह ही खड़े होकर कहा, "जरा बताइए तो यह है क्या चीज़?" लखनऊ-काँग्रेसमें यह वाक्य ही उनका पहला और अन्तिम भाषण था।

कुछ भी हो, सब्जेक्ट कमेटी देखने लायक़ थी और मेरी रायमें काँग्रेसके अधिवेशनमें कोई जाये, तो सब्जेक्ट कमेटी जरूर देखे – कुरता-टोपी बेचकर भी उसका मँहगा टिकिट खरीदे।

सब्जेक्ट कमेटीकी बस एक बात और – दोपहरको जवाहरलालजी कुछ पीते हैं, पर इसका ध्यान कौन रखे? स्वागत समितिको तो अपनी ही खबर न थी; कमला नेहरू, जिनका वास्तवमें यह काम था, दुर्भाग्यवश संसारमें है नहीं और माता स्वरूपरानी अस्वस्थ हैं। फिर यह ज़िम्मेदारी कौन ले? कौन है वह, जो राजनीतिमें खोये इस जवाहरलालका खयाल रखे? वह है स्नेहमयी बहन श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित।

सब्जेक्ट कमेटीके पण्डालमें पहले दिन दोपहर बाद थर्मसमें दूध लायीं। वह ज़्यादा गरम था। उन्होंने उसे ठण्डा किया और गिलासमें डाल जय-रामदासजीको दे आयी। वे मंचके कोनेपर थे। उन्होंने जब गिलास जवाहरलालजीको दिया, तो चौंककर पूछा, "कौन लाया है?" उन्होंने विजया बहनकी तरफ़ संकेत किया, वे लौटी जा रही थीं। अब एक अद्भुत दृश्य। जवाहरलालजीकी कोहनी उनके घुटनेपर, गिलास हाथमें, आँखें विजया बहनकी कमरपर और मनमें विचार-ही-विचार। मैं कल्पना-के पंखोंपर चढ़, उनके विचारोंमें उतर गया, तो देखा, उन विचारोंमें

स्वर्गीय कमलाकी स्मृतियाँ मचल रही थीं ?

दूसरे दिन ठीक उसी समय वे सन्तरेका रस लायीं और दे गयीं। क्या यह काम नौकर न कर सकता था ? क्या किसी स्वयंसेवकको यह काम न सौंपा जा सकता था ? नौकर भी थे और स्वयंसेवक भी, पर बहनका वह सात्त्विक ममतामय दिव्य प्रेम !

खुले अधिवेशनमें

१२ तारीखको शामके छह बजे खुला अधिवेशन शुरू हुआ। मधुर संगीतके साथ मिलकर स्वर्गीय बंकिमचन्द्रके अमर गीत वन्दे मातरम्की काव्यधारा अजेय हो उठी ! अद्भुत कण्ठवीणा, अपूर्ण स्वर-संगम। सचाई यह कि वन्दे मातरम्के सौन्दर्य और माधुर्यका इतना हार्दिक साक्षात्कार आज पहली बार ही हुआ। तन-मनकी थकान उतर गयी, ताजगीके वातावरणकी सृष्टि हुई।

भरा-पूरा बदन, चोगे ढंगसे दोनों कन्धोंपर झूलती चादर, शान्त सौम्य मुखमुद्रा – नेता बिलकुल नहीं, मानव भरपूर, ये थे लखनऊ-काँग्रेसके नाम-नियत स्वागताध्यक्ष श्री श्रीप्रकाशजी। नाम-नियत यों कि जब इस पदके उम्मीदवार दो लखनौआ लीडरोंमें किसी तरह समझौता न हो सका और प्रबन्ध-व्यवस्थाकी काफ़ी मिट्टी पलीत हो चुकी, तो काशी-से श्रीप्रकाशजीको बुलाकर पदासीन किया गया। उनका भाषण उनकी ही तरह सादा, संयत और शिष्ट !

उनके बाद आये उर्दूके यशस्वी कवि श्री साग़र निजामी और उन्होंने जवाहरलालपर अपनी कविता पढ़ी। ताक़त और ताज़गीसे भरे जैसे जवाहरलाल, वैसी ही ताक़त और ताज़गीसे भरी कविता; फिर साग़र साहबके कण्ठकी कूक और भीना-भीना तरन्नुम-वातावरणमें कविता रच गयी, तो कवितामें वातावरण पच गया।

कविताके स्वर सिमटे कि जवाहरलालजी पीछेवाले बड़े मंचसे बाईस फ़ीट ऊँचे छोटे मंचकी ओर चले। अब एक दृश्य-मंचसे उतरे साग़र

निज़ामी एक तरफ़, तो मंचपर चढ़नेको तैयार जवाहरलालजी दूसरी तरफ़; कवि और कर्णधार आमने-सामने। कर्णधारने हाथ बढ़ाया ही नहीं, बहुत मुहब्बतसे मिलाया और दाद दी, "आपने बहुत मौज़ूं नज़्म फ़रमायी!" पुराने ज़मानेमें इसी लखनऊमें नवाबों-द्वारा शाइरोंको दिये हुए सब सुनहरे इनाम मात हो गये इस दादके दाम!

साकार स्फुरणा-सा जवाहरलाल छलाँगता-सा एक ही साँसमें ऊपर चढ आया; कुछ भावोंमें लीन-सा, कुछ अनमना-सा छपा भाषण जन्मपत्रीकी तरह लिपटा हाथमें, पर भाषण ज़बानी, कण्ठाग्र भावसे और यों जवाहरलाल ढाई घण्टे बोलते रहे और छपा भाषण हाथमें लिये हज़ारों आदमी सुनते रहे। भाषणमें अतीतका सिंहावलोकन, वर्त्तमानकी झाँकी और नवयुगके नवप्रभातकी अरुणिमा भी, जो काँग्रेसकी यानी भारतकी राजनीतिको संसारकी राजनीतिसे पहली बार जोड़ती उभरी। इस तरह काँग्रेसके इतिहासमें एक ऐतिहासिक भाषण, छपे भाषणमें जो कुछ लिखा था, उससे बहुत ज़्यादा, पर लगा कि जवाहरलालजी जितना सोचते हैं, जितना महसूस करते हैं, उससे बहुत कम। कानपुर-काँग्रेसके बाद यह पहला ही अवसर था कि अध्यक्ष अपने छपे भाषणसे उधर-उधर जाये। वहाँ सरोजिनी नायडू अभिभाषणसे आगे बह गयी थीं और यहाँ तो जवाहरलालजी उसके हरेक अनुच्छेदमें उससे आगे बढ़े।

राह छाँड़ि तीनों चलें, सायर, सिंह, सपूत।

कानपुरमें शाइर-कविका साम्राज्य था, तो लखनऊमें सिंह-सपूतका। ढाई घण्टेमें छपा भाषण उन्होंने एक बार भी नहीं खोला, पर आश्चर्य क्रम और विषय ही नहीं, भाषा तक प्रायः वही रही। अन्तमें कहा, "ज़रा इसे देख लूँ कि कुछ रह तो नहीं गया!" और उलट-पुलटकर बोले, "नहीं, कुछ नहीं!" और जनताका अभिवादन कर, तालियोंकी गड़गड़ाहटमें वे वेदीसे उतर अपने स्थानपर चले गये।

उनके आसनके पास ही गान्धीजी बैठे थे। उन्होंने जवाहरलालको

थपथपाया और प्यारसे उनकी तरफ़ देख मुसकराये। यह उनके भाषणकी स्वीकृति थी। पण्डितजीने माइकपर कहा, "काम तो अभी और भी है पर पहला काम है यह कि हम महात्माजीसे कहें कि वे अब तशरीफ़ ले जायें। मैं शर्मिन्दा हूँ कि उन्हें कमज़ोरीकी हालतमें इतनी देर इन्तज़ार करना पड़ा।"

महात्माजीने पूरे उल्लासमें अपना अट्टहास किया। खादीके धवल मंचसे वह अट्टहास गूँज उठा, जैसे हिमाच्छादित कैलासपर शिवका अट्टहास! लाउडस्पीकरने युगदेवताकी प्रसादीके रूपमें उसे चारों ओर बाँट दिया। जवाहरलालजी मंचके किनारे तक उन्हें पहुँचाने आये और वहीं खड़े-खड़े महात्माजीको मोटरमें बैठते हुए देखते रहे। मनमें प्रश्न उठा, यह नव-युग-द्वारा प्राचीन युगकी बिदाई है या दोनोंका समन्वय? 'कल' इस प्रश्न-पर क्या कहेगा, इसे मैं नहीं जानता, पर 'आज' की साक्षी तो समन्वयके ही पक्षमें है।

कुछ प्रस्ताव पास हुए और कुछ सन्देश भेजनेवालोंके नाम सुनाये गये। बहुत बड़े-बड़े नाम थे, पर जनताने सिर्फ़ दो नामोंमें ही दिलचस्पी ली, एक श्रीरासविहारी बोस और दूसरा राजा महेन्द्रप्रताप। श्री बोसका सन्देश सुनानेका आग्रह हुआ, तो कृपलानीजीने अपने दुर्वासा-स्वभावके अनुसार समयकी कमीका फ़तवा दे दिया, पर जवाहरलालजीने इसे महसूस किया और अपनी भाषामें सन्देश सुना दिया।

लखनऊके किसी सज्जनकी ओरसे नेताओं, प्रतिनिधियों और स्वयं-सेवकोंको दूसरे दिनके लिए दावतकी घोषणा लाउडस्पीकरपर हुई। एक पत्र-प्रतिनिधिने पूछा, "और प्रेस?" पण्डितजीने हँसकर कहा, "जो परचेमें था, पढ़ दिया। मैंने कहा, मेज़बान अपने रुपयोंकी रसीद चाहेगा, तो प्रेसको दावत देगा ही।" दावत नहीं मिली और पत्रोंमें उसका कहीं ज़िक्र भी नहीं हुआ!

बस इसी दिनकी एक घटना और – जब पण्डितजी अपना भाषण

पढ़ रहे थे, तो एक तरफ़से टीनके पिटनेकी धम-धम आवाज़ आयी। कुछ स्वयंसेवक दौड़कर बाहर चले गये। आवाज़ फिर आयी और कुछ और स्वयंसेवक बाहरकी ओर दौड़े। पण्डितजीका चेहरा तन गया – यह क्या बेहूदगी है ?"

किसीने कहा, "कुछ धार्मिक लोग हरिजन प्रश्नपर अपना विरोध प्रकट कर रहे हैं !"

पण्डितजीने जनसमूहसे कहा, "अगर आप वादा करें कि मेरे पीछे कोई नहीं जायेगा और सब अपनी जगह बैठे रहेंगे, तो मैं इस विरोधको जरा देखना चाहता हूँ।" बहुत-से हाथ उठ गये। पण्डितजी बेदीसे उतरे और भीड़के बीचकी राहोंसे उस आवाजकी तरफ झपटे – एक दम अकेले। कुछ स्वयंसेवक उनके पीछे चार क़दम चले कि पण्डितजीने मुड़कर उन्हें झिड़का, "बेहूदे कहीके !"

वे रुक गये। पण्डितजी गये और लौट आये। माइकपर आते ही बोले, "मेरे जानेसे पहले ही वे भाग गये।" और इस तरह हँसे कि सब हँस पड़े। सचमुच ख़तरोंके खिलाड़ी हैं जवाहरलाल !

१३ अप्रैलको साढ़े पाँच बजेसे ही कार्य शुरू हो गया। यह दिन बहुत व्यस्तताका था। सारे महत्त्वपूर्ण विवाद आज ही होने थे। जवाहरलालजी आज मंचपर नहीं बैठे, बेदीपर ही रहे और सारे विवादका नेतृत्व उन्होंने इस योग्यतासे किया कि वह उन्हींका हिस्सा था। जब एक वक्ता बोलना आरम्भ करता तो वे दूसरेको बुलाकर बैठा लेते। वक्ताओंसे भी उन्होंने कहा, "दिलचस्प बातें बहुत है। आप उन्हें छोड़िए और मतलबकी बातें कहिए।" दोनों पक्षोंके वक्ताओंका उन्होंने इतना सुन्दर सिलसिला बाँधा कि वाह !

आरम्भमें जलियाँवाला बागके शहीदोंकी यादमें दो मिनिटका मौन रहा। वह १९१९ की १३ अप्रैल; हमारे राष्ट्रयज्ञकी आत्मबलि। हम सभी मौन थे, पर हममें कितने हैं, जो उन हुतात्माओंके लिए बेचैनी

अनुभव करते हैं और उनकी बलि-भावनाके कुछ कण अपने मानस-पात्रमें चुननेकी कामना – गुलामीकी आग देशके कितने कलेजोंको जलाती है ?

सवा आठ बजे महामना मालवीयजी आये। वही सौम्य प्रभावशाली मुखमुद्रा, वही भारतीय वेश-विन्यास, पर थके-से, झुके-से। मंचपर वे आये, पर बिना किसी हलचलके, बिना किसी जनोद्वेलनके – राष्ट्रीय भारतके इस महापर्वमें भी जैसे वे अकेले ही हों। श्री जमनालाल बजाजने उठकर उन्हें जगह दी। और कोई हिला तक नहीं। वे बैठे रहे, शान्त-से, चुप-से; जैसे पिछले बीस-पचीस वर्षोंके राष्ट्रीय जागरणमें अपनी स्थितिका सिंहावलोकन कर रहे हों।

पद-ग्रहणके प्रस्तावपर बहुत गरमागरमी रही। सत्यमूर्तिने खूब डटकर उसका समर्थन किया। किसीने पुकारा, "राघवेन्द्र और ताम्बे भी याद है आपको ?" तुरन्त बोले, "मरने दो उन्हे, आप मुझे देखिए, मैं बनूँगा मिनिस्टर !" सब्जेक्ट कमेटीमें भी उन्होंने कहा था, "मैं मिनिस्टर बनूँगा और स्कूलोंमें महात्मा गान्धीकी जय पुकारी जायेगी और राष्ट्रीय गान गाये जायेंगे।" जैसे यह कोई बहुत बड़ा लक्ष्य हो ! कहाँ विधानको नष्ट करने या उसके द्वारा स्वराज्यकी ओर बढ़नेकी बातें और कहाँ ये हलकी लन्तरानियाँ ?

दस बजकर पचीस मिनिटपर समाजवादियोंने चाहा कि विवाद बन्द हो और राय ले ली जाये। जवाहरलालजीने कहा, "अभी मालवीयजी, सरदार पटेल, अच्युत पटवर्धन और राजेन्द्रबाबू बोलनेको बाक़ी है। प्रस्तावकके नाते राजेन्द्रबाबूको तो बोलना ही है, पर आप औरोंके विचार न सुनना चाहे, तो मैं विवाद बन्द कर दूं ?" दोनों पक्षोंके लोग चिल्ला उठे, "नही, नहीं !" 'दो हरन ज़ख़्मी किये सैयाद ने एक तीर से' इसीका नाम है।

मालवीयजी बोलने आये। आम उम्मीद थी कि वे प्रस्तावके पक्षमें बोलेंगे, पर बोले वे विरुद्ध। बहुतोंने आश्चर्यसे उनकी तरफ़ देखा।

मालवीयजी भाषणकलाके आचार्य हैं। इस भाषणमें भी उसका परिचय मिला, जब आरम्भमें ही उन्होंने कहा, "मैं मरना चाहता हूँ, सच मानिए, मरना चाहता हूँ। पचास वर्ष पहले जो देखा था, वही आज भी देख रहा हूँ और मरनेका समय आ गया है।" तो लोगोंकी भावुकतामें एक लहर आ गयी, पर जब उन्होंने विवादके स्वरमें कहा, "अपना तो यह धर्म रहा है कि जो समझमें आये कह दूँ, आप मानें या न मानें" तो कमसे कम मेरे हृदयपर एक चोट लगी। यह पूज्य मालवीयजीके अनुयायीविहीन नेतृत्वका करुण चीत्कार था। भाषणके बाद ज़रा बैठकर वे चले गये, बिलकुल वैसे ही, जैसे आये थे – जनताके इस समुद्रमें बिना कोई लहर उठाये हुए।

गम्भीर गति, उन्नत ललाट, चढ़ी हुई आँखें, हिन्दी भाषा और गुजराती लहज़ा; सरदार पटेलका भाषण आरम्भ हुआ। पचहत्तर प्रतिशत मालवीय विरोध, पचीस प्रतिशत प्रस्तावका समर्थन। भाषा तीखी, कहनेका ढंग करारा – चोटीला; सरदार सचमुच सिपाही है – "मेरे भाई मालवीय-जीकी बात तो मेरी समझमें ही नहीं आती, पर मैं उन्हें सब दिनसे जानता हूँ। पटनामें उन्होंने तीस हज़ार सत्याग्रही स्वयंसेवक देनेको कहा, पर सारे भारतवर्षमें उन्हें मिला तीन स्वयंसेवक भी नहीं।" सरदारको बहुत बार देखा है, पाससे भी, दूरसे भी और मीठी-तीखी बातें भी की हैं उनसे बहुत बार, पर कभी नहीं लगा कि उनके पास कुछ अपना सन्देश है। उनका नेतृत्व जीवन-दर्शनका नहीं, जीवन-पद्धतिका है, कर्मण्यताका है। वे कर्म-विश्वासी है। काम करनेका उनका अपना तरीका है और उसीके कारण वे युग-पुरुषके अटल भक्त और अनन्य विश्वासपात्र है।

श्री पटवर्धन यहाँ हिन्दीमें बोले – खूब बोले और खूब जमे। सभीने चाहा कि वे हिन्दीमें बोला करें। पदग्रहणके विरोधियोंमें सरदार शार्दूल सिंह कवीश्वरका भी एक अपना स्थान था – इस दलका नेतृत्व उन्हींके हाथोंमें था! गठा हुआ बदन, ललाटपर स्थिरताकी रेखाएँ और चेहरेपर

सिखधर्मकी नम्रता, यही उनका हुलिया। प्रस्तावके समर्थनमें पन्तजी भी खूब बोले – सदाकी भाँति। वे महान् धाराशास्त्री हैं, पर सत्यमूर्तिसे बिलकुल भिन्न शैलीके वक्ता; अनथक, लड़ाकू, पराजयकी मनोवृत्तिसे दूर, मितभाषी और गहन-गम्भीर।

अब नम्बर आया वोटिङ्का और पहले हाथ उठे पदग्रहणविरोधी श्री सम्पूर्णानन्दके संशोधनपर; जैसे सैकड़ों सफ़ेद झण्डे उभर उठे हों। पण्डित-जी अपने हाथकी पीली पेन्सिलसे इशारा कर उन्हे गिनने लगे; इस फुरतीसे कि जैसे मशीनसे गोलियाँ निकल रही हों। गिनकर बोले, "ठीक गिनती तो नहीं हो सकती, पर मेरी 'रफ़ आइडिया' है कि संशोधनके पक्षमे दो सौ पचास और विपक्षमें चार सौ पचहत्तर रायें है।" सम्पूर्णानन्दजीने डिवीजनकी माँग की, तो दोनों पक्षोंके लोग अलग-अलग घेरोंमें बैठे – मंचके नेता भी घेरोंमे गये। जमनालाल बजाजने बेदीके नीचे आकर पुकारा, "जवाहरलाल, ए जवाहरलाल, प्रतिनिधियोंसे कह दो कि हाथ उठाते वक़्त अपना प्रतिनिधिटिकिट हाथमें रखें।" सोचा – ब्राह्मणवृत्ति जमनालालका 'वैश्य' कितना सावधान है, कितना जागरूक। संशोधनके पक्षमें दो सौ तिरपन और विपक्षमे चार सौ सत्तासी मत आये। कितना सही था जवाहरलालका रफ़ आइडिया!

तीसरे दिन मैं चला आया, पर दो दिनमे ही जो कुछ देखा, वह सब कह सकना कहाँ सम्भव है?

पहाड़ी रिक्शा

यह जा रही है पास ही एक रिक्शा, जिसमे बैठी हैं दो परियाँ और उन्हें खींच रहे है पाँच जन !

वह जा रही है दूर एक रिक्शा, जिसमे बैठा है एक भैंसा और उसे खींच रहे है चार जन !

यह जा रही है नीचेकी ओर स्वयं दौड़ी-सी एक रिक्शा, जिसमें बैठा हैं एक बूढा और उसे खींच रहे है चार जन !

वह जा रही है ऊपरको ओर घिसटती-सी एक रिक्शा, जिसमे बैठा है एक बीमार और उसे खीच रहे हैं चार जन !

रिक्शाको देखते ही आँखोंकी राह दिलमे उतर जाते है ये रिक्शा-कुली ! जो पेटके लिए मनुष्य होकर भी बैलों या घोड़ोंकी तरह मनुष्यको ही खींचते है ।

पिछले वर्षोमें जब-जब पहाड़पर आया हूँ, रिक्शाएँ देखी हैं और तभी तब सोचा है, कितने दयनीय हैं ये जन, जो पेटके लिए रिक्शा खींचते हैं !

उस दिन भी एक बेंचपर बैठा मैं देख रहा था कि रिक्शाओंका एक समूह चला जा रहा है, पर मेरा ध्यान रिक्शाके कुलियोंपर नहीं, रिक्शापर ही जा टिका ।

कितना बोझ होगा एक रिक्शामें ? चार-पाँच मन ! और दो सवारियोंमें ? आम तौरपर ढाई-तीन मन ! तब पूरा बोझ हुआ सात-आठ मन और कभी-कभी दस मन । इसका अर्थ हुआ कि रिक्शाके प्रत्येक मजदूर-पर डेढ़ मनसे दो मन !

मैं कुछ सोच रहा हूँ, सोचे जा रहा हूँ, कोई बड़े कामकी बात है, पर धुँधली-सी है और पकड़मे नहीं आ रही! तभी देखता हूँ, सामनेकी ऊँची कोठीपर आटेकी पूरी बोरी अपनी कमरपर लिये और सिरपर खिचे पट्टेके सहारे उसे सँभाले एक मज़दूर चढ़ा जा रहा है। उसे देखते ही, मेरे भीतर जो धुँधला विचार घुमड़ रहा है, उसे स्वरूप मिल गया है। अब मैं अपनेसे पूछ रहा हूँ, रिक्शाका मज़दूर दो मनका बोझ पहियोंके सहारे खींचता है और यह मज़दूर ठीक दो मन बोझ अपनी कमरके सहारे ही लिये जा रहा है, फिर रिक्शाका कुली दयनीय क्यों है? स्वयं मार्क्स राष्ट्रपति हों या महात्मा गान्धी, ऊपर बोझ ले जानेकी जरूरत रहेगी तो सामान ऊपर जायेगा ही, और कोई-न-कोई उसे ले जायेगा भी, फिर इसमे दयनीयता क्या है? कुछ नहीं; तो फिर रिक्शामें ही क्या खास बात है? एक मजदूर दो मन आटा ले जा रहा है, एक मजदूर एक आदमीको, जिसका बोझा दो मन है, खींचे लिये जा रहा है; इसमे क्या कुछ अन्तर है? मज़दूर आटा उठाये या आलू, कपड़ोंका ट्रंक ले जाये या रातका बिस्तरा और इसी तरह वह ले जाये एक आदमीको, उसे उसकी मज़दूरी मिलेगी। मुझे याद आया, अस्पतालमे जो अनाथ लोग मर जाते है, उन्हे श्मशान ले जानेका काम भी मज़दूर करते हैं और अपनी मज़दूरी ले लेते है। फिर जब आटा ढोनेमे दयनीयता नहीं, यहाँतक कि मुरदा मनुष्य ढोनेमे भी दयनीयता नही, तो यह कौन-सी फ़िलासफ़ी है कि जीवित मनुष्यका ढोना ही दयनीयता है?

जो बात पिछले अनेक वर्षोंसे मनके लिए साधारण रही है, वह आज असाधारण क्यों बन गयी? रिक्शा देखकर सदैव रिक्शा-कुलीपर जो दया आती रही है, इस प्रथाको बन्द करनेके लिए मनमे करुणा और विद्रोहका जो स्वर उमड़ता रहा है, क्या वह एक सस्ती भावुकता ही थी? मन यह माननेको तैयार नहीं होता, पर मस्तिष्क तो आज जैसे अपनी बातपर अड़ ही गया है – वह उस भावुकताकी खिल्ली उड़ाकर पूछता है – जब मुरदा

मनुष्य ढोना दयनीय नहीं, तब जीवित मनुष्यको खींचना दयनीय क्यों है ?

मै अपनेमे खो गया हूँ, खोया जा रहा हूँ – हाँ, ठीक तो है। मज़दूरी-मजदूरी एक ! या तो हम समाज-व्यवस्थाको ऐसा रूप दें कि मजदूरी हो न रहे, उसकी आवश्यकता ही समाप्त हो जाये जबतक ऐसा न हो मजदूरी-मज़दूरी एक। मज़दूर आलू ढोये या आटा, जीवित आदमीको ढोये या मुरदा लाश, एक ही बात है। हाँ, यह ज़रूरी है कि मजदूरको पूरी मजदूरी मिले। आखिर समाजमे पाखाना ढोना भी एक कार्य है और कोई-न-कोई उसे करेगा ही। समाजका जो यह काम करे, वह दयनीय क्यों ?

मनमे झिझक अभी बाक़ी है और तभी मैं अपनेसे पूछ रहा हूँ – तो रिक्शा-कुली दयनीय नही है न ? मस्तिष्क चौंकन्ना है – वह पूरी दृढ़तासे कहता है, नही, भाई नही ! पर मन पूछता है, यह दयनीय नहीं है, तो पिछले अनेक वर्षोमे मै यों ही इससे दुःखी रहा हूँ और दूसरे लोग भी खामखाह ही इस भावुकतामे फँसे रहे है ? मन चाहता है, कोई तथ्य ऐसा मिले कि इस भावुकताका समर्थन हो, पर मिल नही रहा है और तब मैं सोच रहा हूँ, किस मूर्खतामें फँसा रहा मैं इतने साल !!!

यों ही ध्यान उचटकर पहुँच गया, उस बडे अस्पतालमे; जहाँ बहनका बडा ऑपरेशन हुआ था। बहन क्लोरोफॉर्ममे धुत्त और रोगके आक्रमणसे जर्जर ! ऑपरेशन रूमसे चार आदमी स्ट्रेचरपर उसे कमरे तक उठाकर लाये। मै भी साथ-साथ रहा और रास्ते-भर सोचता रहा – कितने अच्छे है ये लोग ! ये यहाँ न हों, तो रोगियोंको कितना कष्ट हो ? और तब मैंने कृतज्ञ होकर उन्हे दो रुपये पुरस्कार दिये थे ! तब क्या उनका कार्य दयनीय था और मेरे मनमे उसके प्रति कोमलताका जो भाव उगा था, वह एक मूर्खता ही थी ? आज तो यही लगता है कि वह एक मूर्खता ही थी। मनुष्य भी क्या अजूबा है कि इतने वर्षों तक एक मूर्खताको ही अपना गुण समझता रहा !

सोचनेकी शक्ति और उत्साह अब क्षीण हो गया है और मस्तिष्क थक चला है। मन अब कोई नयी बात चाहता है। मैं अपनी बेंचपर-से उठकर चल पड़ा हूँ, धीरे-धीरे और सुस्त; मन जैसे मर-सा गया है यह पछाड़ खाकर। चला जा रहा हूँ, चला जा रहा हूँ। कुछ सोच रहा हूँ, कुछ सोच भी नहीं रहा हूँ।

सामनेसे आ रहा है एक मज़दूर – कोयलेकी एक कण्डी कमरपर लिये, दूसरी ओर जा रहा है एक मज़दूर कमरपर ही लकड़ीका भारी गट्ठा लिये। वे जा रहे है तीन मज़दूर साथ-साथ बड़े-बड़े ट्रंक और बिस्तर लादे।

मैं देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि कितना बोझ उठाते हैं ये पहाड़ी बन्धु और तब याद आया, उस दिन कुलड़ी बाजारमे ढालपर बच्चा बैठ गया और वास्केटवाला भी न मिला, तो मैने उसे अपनी गोदमें उठा लिया था। हाँ, उठा तो लिया था, पर ऊपर पहुँचाना मुझे मुश्किल हो गया था। ऊपर पहुँचकर जब लम्बे-लम्बे साँसोंके बीच मैने उसे उतारा, तो मुझे लगा कि मेरी छातीसे भूत उतरा और तब मेरे मुँहसे निकला, कम्बख़्तमें कितना बोझ है!

अब मेरे मनमें एक शब्द है बोझ और यह एक गूँजकी तरह मेरे मन-के गुम्बदमें भर रहा है।

एक बार किसी गाँवमें जब मैं गया तो वहाँ एक पिताने अपने निखट्टू पुत्रको 'धरतीका बोझ' कहा था और मेरे नन्हे पुत्रको पत्नीकी मृत्युके बाद किसी आत्मीयने ही 'छातीका बोझ' कहा था।

मनके गुम्बदमें भरी गूँजमें अब ये दो नयी ध्वनियाँ आ गयी है – धरतीका बोझ और छातीका बोझ।

धरतीका बोझ! छातीका बोझ!! दोनोंमें मनकी घोर घृणा है, तो बोझ बनना बुरा है! बोझ बनकर जीना दयनीय है!

मनकी गूंज इस चिन्तनमें तीव्र हो चली है। बोझ बनना बुरा है। बोझका अर्थ है – दूसरेका सहारा। यह स्वावलम्बनके विरुद्ध अनाथतका-असहायताका अवलम्बन है।

सामनेसे एक रिक्शा आ रही है। उसमें बैठा है एक मोटा मनुष्य और उसे खीच रहे हैं चार जन! कोयलेकी कण्डी, लकड़ीका गट्ठा और ट्रंक-बिस्तरा लिये जा रहे वे मज़दूर भी दिखाई दे रहे है मुझे!

ओह! कितना बोझ ढोते है ये पहाड़ी बन्धु! फिर वही बोझ! कोयलेका बोझ, लकड़ीका बोझ, ट्रंकका बोझ! सोचते-सोचते मै बह रहा हूँ····और मनुष्यका बोझ!

मनके भीतर एक रोशनी-सी आ रही है – मनुष्यका बोझ! तभी एक प्रश्न – जो मनुष्य रिक्शामें बैठता है, वह बोझ है और जीवित, स्वस्थ मनुष्यका बोझ बनना दयनीय है? बेशक दयनीय है!

मेरी थकान अब दूर हो गयी है। मनके साथ देहमें भी स्फुरणा है और एक वाक्य मनकी उस गूँजपर छा गया है – जो रिक्शा खींचते है वे पुरुषार्थी हैं – उनका पुरुषार्थ भले ही उनकी विवशता हो, वे है पुरुषार्थी और जो उसमें बैठते हैं, वे बोझ है। इस बातका फलितार्थ होता है – बोझ बनना दयनीय है, रिक्शामे बैठनेवाले लोग दयनीय है।

और मैं अब अपनेसे कह रहा हूँ। अनेक वर्षोंसे मैं रिक्शा चलानेवालोंको दयाका पात्र समझता रहा हूँ, पर सत्य यह है कि रिक्शामें बैठनेवाले ही दयनीय है।

मन नयी दिशामें मुड़ चला है – अहिंसाकी छायामें। एक रोगी भी हमारी दयाका पात्र है और एक डाकू भी। दवा और दण्ड समाजकी दया ही तो है! तब पेटके लिए बोझ ढोनेको विवश मज़दूर और पैसेके गर्वमें मनुष्यसे बोझ बननेवाला यात्री, दोनों ही दयाके पात्र है और हमारी दयाका अनुरोध है कि यह प्रथा बन्द हो।

बूढ़ों एवं बीमारोंके लिए झपान, बच्चोंके लिए वास्केट और मूर्च्छितों एवं मृतकोंकी सेवाके लिए स्ट्रेचर रहेंगे ही। रिक्शाएँ भी रहेंगी, पर संग्रहालयोंमें; जहाँ भावी पीढ़ीके बच्चे उन्हें देखेंगे और सोचेंगे – ओह ! वह भी एक युग था, जब मनुष्य भी कुछ पैसोंके लिए मनुष्यों-द्वारा ही बोझकी तरह ढोया जाया करता था !

काँग्रेस महासमितिके अधिवेशनमें

वे आसमानमें और हम धरतीपर !

हम धरतीपर और हमारे हृदय और आँखें आसमानपर, जैसे हमारी आँखोंकी डोरसे ही वह खिंचा आ रहा हो ? अपने वायुयानसे हमें ताकते-झाँकते ये उतरे जवाहरलाल कि इन्दौरकी इन्द्रपुरीमें काँग्रेस महासमिति-का अधिवेशन बस शुरू हो गया ।

यह है १२ सितम्बर १९५२ !

हारोंसे लद चले जवाहरलालके कन्धे । इन हारोंमें श्रद्धाकी सुरभि है तो विश्वासका सौन्दर्य भी । जवाहरलालके पीछे खड़े हैं मौलाना अबुल-कलाम आजाद, डॉक्टर काटजू और और और; पर किसीको उन्हें देखनेकी फुरसत नहीं । तब जागी जवाहरलालकी शराफ़त, "अरे भाई देखिए, साथमें मौलाना साहब और डॉक्टर काटजू हैं, उन्हें पहनाइए हार ।" और तब उनके भी गले लटकीं कुछ मालाएँ और मैंने अपनेसे कहा, आजके युगकी मालाएँ तो जवाहरलालकी ही हैं; यों वह चाहे जिसके गले उन्हें डलवा दें ।

"जवाहरलालकी जय !" जवाहरलाल आजके भारतका चाँद, जहाँ वह है, वहाँ भीड़ है – अधीर भीड, उतावली भीड़, उचकती-उभरती भीड़, बेचैन भीड़ । ओह, कोटि-कोटि मानवोंके आकर्षणका मध्यबिन्दु; जिसे देखकर जनताके सागरमें ज्वार उमड़ता है, पर हाय, ज्वाला नहीं जागती !

मीलों लम्बे रास्तेपर घच्चम-घच्च कन्धा भिड़ाये आदमी-ही-आदमी,

जैसे अनझपकती आँखोंकी बन्दनवार बँधी हो। खुली मोटरमें जवाहरलाल, एक आँख इधर, तो दूसरी आँख उधर, जिसने उसे झपक-भर देख लिया, निहाल हो गया; जो रह गया – चूक गया, लुट गया। मैं सोच रहा हूँ गोपियोंमें भी कृष्णके लिए इससे ज़्यादा बेचैनी और क्या होगी।

सजे द्वारों, धजे चौराहोंको पार करते, वन्दना देते, अभिवन्दना लेते वे रेजीडेन्सी-भवन जा पहुँचे और मोटरसे उतरकर कमरेमें चले गये। कमरेमे गये कि लौट आये कुछ खोजते – "मेरी छड़ी कहाँ है?" मोटर-से छड़ी आयी तो उसे सँभालते-से बोले, "हाँ, मै इसे नहीं भूल सकता, यह मेरा साथी है।"

जवाहरलाल हमारी कल्पनामें चिरयुवा हैं। उन्हें विमानसे उतरते देखा था, फिर मोटरसे और अब छड़ीको सँभालते और तब सोचा, बुढ़ापा जीत रहा है। और तभी सोचा, बुढ़ापा बेचारा क्या जीतता जवाहरलालको, हमारे पाप जीत रहे हैं। हमने, उसके अपनोंने उसे धुएँ-के भभूलेमे खड़ा कर दिया है और धुएँमे किसका साँस नहीं घुटता!

दूसरे दिन सुबह!

गान्धी-भवन; इन्दौर-काँग्रेसका अपना विशाल कार्यालय और यहीं राज्योंकी असेम्बलियों, कौन्सिलों और पार्लामेण्टके काँग्रेसी सदस्योंका कन्वेन्शन। देश-भरसे आये कोई एक-डेढ़ हज़ार सदस्य उपस्थित, जिनमें अनेक मन्त्री और अनेक मुख्य मन्त्री, वातावरण सजीव और सरस!

गान्धी-भवन पहुँचते ही बहुत-से पत्रकारोंको जवाब मिला, "श्री बलवन्तराय मेहताने सब प्रेस-पास देखकर यहाँके लिए पचास रख लिये हैं और बाक़ी कैन्सिल कर दिये हैं आपका नाम उसमें नहीं है।" और इन उत्तर पानेवालोंने देखा, उनसे हीन कोटिके पत्रकारोंका नाम उस सूचीमें है।

पता नहीं श्री मेहताको यह वायुगोला क्यों उठा और व्यवस्था ही

इसका उद्देश्य था, तो भाई-भतीजोंको परमिट देनेकी ज़लील जहनियतसे ऊपर वे क्यों न उठ सके। वे न उठें और जायें जहन्नुममें, पर उनके नाम-से यह काँग्रेस जो डुबकी खाती है उसे कैसे भूला जाये ?

गान्धी-भवनके बाहर भीड़-ही-भीड़, पर व्यवस्थित – हरेक आदमी लाइनमें। ये आये उत्तर-प्रदेशके मुख्य मन्त्री पन्तजी और यह मध्य-प्रदेशके रविशंकर शुक्ल; दोनों लम्बे-चौड़े, तो यह आ गये हैदराबादके मुख्य मन्त्री श्री रामकृष्ण राव नाटे गुट्टे और ये वे और वे ये, जनता शान्त है, पुलिसके अधिकारी सतर्क है।

इस शान्तिमें कहींसे चमकी एक चौंक और फिर लहर – पण्डितजी आ गये और तब बाढ़ – आ गये आ गये !! बाढ बन्धनोंमें कब बँधी है, पुलिसके प्रबन्ध और कार्यकर्त्ताओंकी कोशिशें बेकार – लोग उमड़ आये जवाहरलालकी मोटरके चारों ओर।

मोटरमें ड्राइवरके पास श्री गोपीकृष्ण हाण्डू डिप्टी डायरेक्टर इण्टैली-जेन्स और पीछे पण्डितजी और श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित। हाण्डू अपनी ज़िम्मेदारियोंसे परेशान, पर हमेशासे वे अपनी सूझ और फुरतीके लिए यशस्वी, उन्होंने बलपूर्वक पण्डितजीको ज़ीनेपर चढ़ा दिया।

बस यही इस अधिवेशनका सर्वोत्तम दृश्य।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू गान्धी-भवनके दुमंज़िले छज्जेपर और नीचे कोई आठ-दस हजार आदमी ! दस हजार आदमी, तो बीस हज़ार आँखें और दस हज़ार दिल, दिमाग़ और चेहरे ! इन बीस हज़ार आँखोंमें एक तसवीर जवाहरलाल, इन दस हज़ार दिल-दिमागोंमें एक धुन जवाहरलाल और यह चेहरे ? उमंगोंसे फट पड़ते-से, खुशीसे खिले-से; जैसे हज़ारों कैमरे एक साथ एक ही आदमीका फ़ोटो ले रहे हों !

ओह, कितना आकर्षण है जवाहरलालमें ! हर आदमी उसे देखने-को बेचैन है, दीवाना है, पर इस आकर्षणका रहस्य क्या है ?

जवाहरलालकी राजनैतिक ईमानदारीको वामपक्ष रोज़ चैलेंज करता

है और उसकी शासन-चातुरीकी आलोचना घर-घर और गली-गली है – जनताकी भाषामें वही तो है, जिसके राजमे कोई काम बिना रिश्वत या सिफ़ारिशके नहीं होता और वही तो उन काँग्रेसियोंका प्रधान है, जिन्हें लोग कोसा करते हैं, फिर जवाहरलालके प्रति जनताके आकर्षणकी खिड़की कहाँ है ? वह कोना कौन-सा है, जिससे जनताको जवाहरलाल आकर्षक दिखाई देता है ?

मुझे लगता है कि जवाहरलालको नैतिक ईमानदारी-व्यक्तिगत चरित्र, विरोधियोंके लिए भी 'अनचैलेंजेबल' है, उसकी सिन्सियरिटी उनके लिए भी विश्वसनीय है। लोग महसूस करते है कि वही है, जो नयी ज़िन्दगी, नया समाज और नये भारतके निर्माणके लिए बेचैन है, वही है जिसने दुनियामें भारतकी शान चमकायी, दूसरे शब्दोंमे वही एक है जिसकी जनताके जीवनमें दिलचस्पी है – गान्धीके बाद वही तो है जो देशकी पतवार थामे है; और बस यहीं उस आकर्षणकी नींव है। मैंने सोचा, तो एक इमानदारी इतनी बड़ी होती है !

कन्वेन्शनके स्वागताध्यक्ष और मध्यभारतके मन्त्री श्री मिश्रीलाल गंगवालका स्वागत-भाषण उतना ही सादा था जितने वे स्वयं।

पण्डित नेहरूने अपने भाषणमे पार्लामेण्टरी परिषद् स्थापित करने और काँग्रेसका एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित करनेकी बात कही। वे बोल रहे थे, पर भाषणमें वे न थे। उनकी मूड कुछ यों थी – चलो आ गया , तो कुछ कह ही दूँ।

सचाई यह है कि यह कन्वेन्शन कुछ यों ही बुला लिया गया था। इसके एक प्रस्तावमें कहा गया था कि भिन्न-भिन्न राज्योंके काँग्रेसी सदस्योंमे सहयोग होना चाहिए। और दूसरेमें एक पत्र निकालनेकी बात, पर यह काम तो एक सरकुलरसे ही हो सकता था। यही कारण है कि इन प्रस्तावोंके लिए सदस्योंमें कोई उत्साह न था। मंचसे जब पण्डित नेहरू, डॉ० काटजू और पाटिल बोल चुके, तो पण्डितजीने सदस्योंसे कहा, "प्लेटफ़ार्म तो

काफ़ी बोल चुका अब आपका नम्बर है," पर कोई बोलनेको नहीं उठा, तब पण्डितजीने एक बड़ा करारा व्यंग्य किया : "मेम्बरोंकी खामोशीका यह नया तजर्बा है। दिल्लीमें तो बोलनेको हरेक बेचैन रहता है, जिससे काफ़ी परेशानी होती है।"

इस अधिवेशनकी सबसे बड़ी दिलचस्प चीज़ थी, डॉ० काटजूका भाषण। वे पहला प्रस्ताव पेश करनेको उठे, तो बोले, "प्रधानजी चाहते हैं कि मैं प्रस्तावपर बोलूँ पर मैं तो मध्यभारतके गुणगान करना चाहता हूँ। भारतके प्रान्तोंमें मध्यभारत ही जवाहर है और वही लाल। भारतकी राजधानी दिल्लीको बनाया गया, मुझसे किसीने नहीं पूछा। कोई पूछता तो मैं कहता···"

बीचमें ही किसीने कहा, "अपनी जन्म-भूमि जावरा!" तो बोले, "ना-अवन्ती (उज्जैन)" और बस फिर तो वे बह चले और उन्होंने मध्यभारतको कश्मीरसे भी श्रेष्ठ बताया।

मध्यभारतके लोग मुग्ध हो गये और उनकी तालियोंसे हॉल गूँज-गूँज गया। डॉ० काटजू श्रेष्ठ वकील हैं और वकालत छोड़कर मिनिस्टर बननेमें उन्होंने बहुत बड़ा बलिदान किया है, पर इस भाषणसे उन्होंने वर्षोंका मेहनताना एक साथ वसूल कर लिया। प्रसिद्ध पत्रकार श्री सत्यदेव विद्यालंकारने मुझसे कहा, "डॉ० काटजूने पार्लामेण्टका चुनाव यहाँसे लड़कर मध्यभारतको सर किया था और आज उसपर क़ब्ज़ा भी कर लिया।"

महासमितिके अधिवेशनका पहला काम था झण्डा फहराना। यह बहुत शानदार समारोह था और कुछ देरके लिए तो हम जैसे १९३० के जलते-जागते वातावरणमें पहुँच गये। पण्डित जवाहरलाल भी भावलीन थे; यहाँतक कि वे खड़े थे काँग्रेस पताकाके नीचे और उनके मनमें थी राष्ट्रीय पताका!

इसी स्थितिमें उन्होंने कहा, "यह झण्डा जिसे कि आप हम और

लाख जनता सिर नवाती है, महज़ कपड़ेकी तीन पट्टियाँ हैं, मगर इस झण्डेमें आपसकी एकता, एक-दूसरेका विश्वास, मुहब्बत और मुल्ककी तरक़्क़ीकी भावना छिपी है। झण्डा किसी एक नगर या एक प्रान्तकी धरोहर नहीं, वरन् वह देशकी धरोहर है, समस्त धर्मों, समस्त जातियोंकी अपनी सर्वोत्तम चीज़ है। आज हमें झण्डेको काम और मेहनतका भी प्रतीक बना लेना चाहिए।

श्री कन्हैयालाल खादीवालाके स्वागत-भाषणके बाद पण्डित जवाहरलाल नेहरूके हिन्दी भाषणसे खुला अधिवेशन आरम्भ हुआ। वे जब नयी प्रयोगशालाओंके भावी सुफलकी चर्चा कर रहे थे, तो ज़ोरका पानी बरस पड़ा और पण्डालके ऊपरका टीन टपाटपकी ध्वनिसे गड़गड़ा उठा। पानी बरसनेकी खुशीमें जनताने जवाहरलालकी जय गुंजायी और तालियाँ गड़गड़ा दीं।

अब नेहरूजी भौंचक, कभी वे देखते हैं ऊपर तो कभी नीचे; यह आवाज़ कहाँ है? उनकी समझमें बात आयी कि वे ज़ोरसे हँस पड़े और तब बोले, "मुबारक है आपको।"

पण्डितजी आज देशके सर्वमान्य नेता है। उन्होंने भाषणमें क्या कहा, यह देखना साधारण है। असलमें देखना यह है कि उनके भाषणकी प्रतिध्वनियाँ क्या है और आज जनताके मनमें जो जिज्ञासाएँ है, ये प्रतिध्वनियाँ उनका क्या उत्तर देती हैं।

आज जनतामें जो आलोचना है, चे-मे-गोइयाँ है, उनका सार है—देशकी पाँच वर्षोंकी स्वतन्त्रतामें अभी सरकारने यह नहीं किया, वह नहीं किया, यह कमी है, वह कमी है।

जवाहरलाल नेहरूके मानसकी प्रतिध्वनि है कि ठीक है आपकी बात, पर हम प्रजातन्त्रकी जिस पद्धतिकी नींव रख रहे है, उसमें यह ज़रूरी है कि हम तो करें ही, आप भी करें।

संक्षेपमें पण्डित नेहरू यह मानकर चलते हैं कि आज हम जनताके

सुखपूर्ण जीवनका निर्माण नहीं कर रहे हैं, उसकी नींव ही रख रहे हैं। साफ़-साफ़ यह कि वे शिलान्यासका ही श्रेय माँगते है, उन्हे उद्घाटनका भी श्रेय मिले, इसके लिए वे लालायित नहीं है।

सरकार तेज़ीसे क्यों नहीं चलती, इस बारेमें उनके भीतरकी धारणा कुछ यों है कि भारतकी परिस्थिति और परम्पराको देखकर यही उचित और हितकर है कि हम अहिंसात्मक क्रान्तिके द्वारा देशको प्रगतिके लम्बे रास्ते ले चलें और हिंसात्मक दबावके द्वारा, जो जल्दी मुमकिन है, उसे न अपनायें। संक्षेपमे वे असन्तोषमें भी सन्तुष्ट हैं कि आज जो होना है, हो रहा है, कल जो होनेवाला है, कल होगा।

अब आये प्रस्ताव। शोक-प्रस्तावके बाद श्रीनरहरि विष्णु गाडगिलने काँग्रेसके विधानमे संशोधनका प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्तावकी पत्रोंमें बहुत चर्चा हो चुकी थी और आशा थी कि इसपर बहुत गरम बहस होगी। कहा गया था कि काँग्रेस-शासन काँग्रेस-संगठनपर क़ब्जा करना चाहता है और पाटिल जो संशोधन करेंगे, उससे काँग्रेस-शासनपर काँग्रेस-संगठनका क़ब्जा हो जायेगा।

समझमे आने लायक बात कहनी हो तो यों कहिए कि बॅगलौरमें पराजित गुट इन्दौरमें नेहरूको कसनेकी तैयारीमें था, पर इन्दौरमे आते ही परदेके पीछे जो बातें हुईं उनमें विरोधका बल टूट गया और एक संशोधित प्रस्ताव बना, जिसे गाडगिल पेश कर रहे थे।

हिन्दी-हिन्दुस्तानीके विवादमें, हिन्दीके एक नेता रहनेवाले गाडगिल अँगरेज़ीमे ही बोल पड़े तो पण्डालमें कानाफूसी हुई और पाटिल भी उधर ही बढ़े, तो कानाफूसी कोलाहलमें बदली, पर पाटिल तो 'पब्लिक प्लेयर' है। संभलकर बोले, "अच्छा हिन्दी चाहते हैं तो हिन्दी लीजिए" और बड़ी टकसाली हिन्दी बोले :

"पार्लियामेण्टके मेम्बर काँग्रेस कमेटियोंके सौ टका मेम्बर होंगे और असेम्बलियोंके एसोशियेट मेम्बर। शासन और संगठनमे को-ऑर्डिनेशन-

दोस्ती होनी चाहिए।" सुनकर जनता जम गयी। प० सत्यदेव विद्यालंकार बोले, "फुल प्लेज़ मेम्बर तो हुए एक सौ टका मेम्बर, पर एसोशियेट मेम्बर क्या हुए ?"

मैंने कहा, ये हुए दो टका मेम्बर—यानी आइए, बैठिए, बोलिए और जाइए; क्योंकि इन्हे वोट देनेका अधिकार तो होगा नहीं।

पाटिलके समर्थनके बाद मैंने मंचको बारीकीसे देखा। विरोधी गुटके नेता सुस्त बैठे थे; जैसे विरोधकी सरकटी देहके धड़ हों और जवाहरलालजी अचकनके उस काजमे आज लाल गुलाबका फूल लगाये थे, जो कल सूना था!

बँगलौरमे जवाहरलालके राजनैतिक जीवनको समाप्त करनेका मोर्चा विरोधी दलने बाँधा था और वह अपनी सफलतामे इतना विश्वासी था कि 'बिना जवाहरलालके काँग्रेसको चलाने' की घोषणा कर चुका था—उसकी जेबमे नये केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डलकी सूची तक तैयार थी। इन्दौरमे ऐसा तो न था, सिर्फ़ दाव-घातका ही मोर्चा था, जो जमनेसे पहले ही टूट गया।

पहले दिनकी कार्यवाहीको पूरी तरह देखकर मैंने सोचा, जवाहरलालका प्रभाव आज सारे राष्ट्रमें अजेय है, पर उनकी पार्टी इस प्रभावको बढ़ानेका नहीं, शोषण करनेका ही काम करती है। मुझे याद आ गये मेरे बूढ़े पिताजी। मैं छोटा था, उनसे पैसे माँगता था, मेरा बड़ा भाई पढता था, उनसे पैसे माँगता था, उससे बड़ा भाई भंगड़मस्त था वह भी उनसे पैसे माँगता था। पण्डित जवाहरलालका कुनबा – काँग्रेस-भी ऐसा ही है। कुछ अबोध है, कुछ सीखतड़, कुछ भंगड़ी और ये सब अपने अस्तित्व और व्यक्तित्वके लिए ताक़त चाहते हैं जवाहरलालसे। तो यों जवाहरलाल काँग्रेसकी शक्ति है और काँग्रेस जवाहरलालकी कमजोरी!

ग़ज़बका प्रभाव है जवाहरलालमें, पर आजका भारत लाख सिर झुकाये इस प्रभावको, इतिहास भावुक नहीं होता; वह जवाहरलालसे सौ

साल बाद एक ही प्रश्न पूछेगा, "तूने उस अथाह प्रभावका क्या उपयोग किया ?"

जवाहरलालमे कला और राजनीतिके समन्वयको एक लचक है, जो उन्हें कटीला नहीं होने देती। यही कारण है कि सम्भव होते भी वे डिक्टेटर नहीं हो पाये। डिक्टेटर वध और बलिदान, निर्माणके इन दोनों पहियोंको तेजीसे घुमा देता है और इस प्रकार उसके चारों ओर एक-एक चमत्कारी वातावरणकी सृष्टि हो जाती है, पर जवाहरलाल अपनोंको बलिदानकी भावना और नव-निर्माणके विरोधी तत्त्वोंको वधका दण्ड नहीं दे पाते। पता नहीं इतिहास उन्हे इसके लिए महान् कहेगा या मूर्ख ?

दूसरे दिन महासमितिके दो अधिवेशन

दक्षिण अफ्रीकाके वर्णभेदकी लड़ाईको एक प्रस्तावमे ललकार दी गयी, तो दूसरेमे ट्यूनिशियामे साम्राज्यवादी प्रवृत्तियोंको धिक्कारा गया; इसकी प्रतिध्वनि हुई कि आजका भारत विश्वकी राजनीतिको बदल भले ही न पाये, वह सचाईका प्रहरी ज़रूर है।

महासमितिका मुख्य प्रस्ताव है वह आर्थिक प्रस्ताव, जिसे गाडगिलने पेश किया और श्रीमन्नारायण अग्रवालने समर्थन। इसके कुछ अंश इस प्रकार हैं, "भारतकी जनताके सामने दरिद्रता, बेकारी, अज्ञान और फूटसे युद्ध करने तथा अनुशासनपूर्ण संगठित तरीक़ेसे आर्थिक प्रगति, अधिक उत्पादन, न्यायपूर्ण वितरण तथा जनताके रहन-सहनके स्तरको उन्नत करनेकी दिशामें अपनी समस्त शक्ति लगाकर भारतके संविधानमें बताये गये लक्ष्यको प्राप्त करनेका महान् और अत्यन्त आवश्यक कार्य है। इस लक्षको प्राप्त करनेके लिए आर्थिक प्रगतिके क्रममें गतिशीलता लानी पड़ेगी और ऐसे निश्चित क़दम उठाने पड़ेंगे, जिससे लोगोंको समान अवसर मिल सके और क्रमसे आय और सम्पत्तिकी असमानताको कम किया जा सके। प्रगतिका आधार देशकी आर्थिक व्यवस्थाके ढाँचेमें आमूल परिवर्तनपर

निर्भर होना चाहिए; ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जानी चाहिए जिसमें कि समाज राज्यके विभिन्न संगठनों एवं सहकारी संस्थाओं-द्वारा उद्योग तथा व्यापारके विकास एवं संचालनमें और भी अधिक हिस्सा ले सके। उत्पादन और व्यापारकी प्रतियोगिता तथा निजी लाभके बदले सहकारिता तथा समाज-सेवाके आधारपर आश्रित किया जाना चाहिए। इस बातके लिए दृष्टिकोण और शासनकी प्रणालियोंमें परिवर्तन और जनता-द्वारा अपनी क्षमताके अनुसार अधिकसे अधिक त्याग करनेकी आवश्यकता है।"

इस प्रस्तावको काँग्रेसके इतिहासमें नया अध्याय कहा गया। श्रीमन्नारायण अग्रवालके समर्थनमें विषमताके प्रति विद्रोह तो न था, पर उसकी सरल चर्चा और उसे मिटानेकी बात भी स्पष्ट भाषामें कही गयी थी, "आखिर बड़े कारखाने भी मैनेजिङ् एजेन्सी या किसी धनपतिके हाथ क्यों रहे, वे को-आपरेटिव व्यवस्थामें क्यों न हों।"

मजदूर प्रश्नोंके विशेषज्ञ नेता श्री खण्डू भाईने इस स्पष्टताको थोडी प्रखरता दी, जब कहा, "इस प्रस्तावमें काँग्रेसका मानस शासनके सामने आया है। यह मानस यह है कि आजकी समाज-व्यवस्थाका ढाँचा बदले। पूँजीवादी समाज-व्यवस्थाका आधार लेकर हम नहीं पनपे और इसे बदले बिना हम जनतामें सहकार नहीं जगा सकते!"

प्रस्ताव पास हो गया और इसका अर्थ हुआ कि अब काँग्रेस यह बखूबी समझ गयी है कि या तो वह कोई तेज क़दम उठाये और या हट जाये! सचाई यह है कि इस प्रस्तावपर काँग्रेसी शासन जो कुछ करेगा, वही काँग्रेसके जीवन-मरणकी कसौटी होगी।

कलकत्तेके समाज-सुधारक श्री वसन्तलाल मुरारकाने इस प्रस्तावमें यह संशोधन रखा कि एक व्यक्तिकी आयसे दूसरे व्यक्तिकी आय पचास गुणीसे अधिक न हो। उन्होंने कहा, मजदूर और मैनेजरकी तनख्वाहमें जो विषमता है, वह दूर हो।

संशोधन गिर गया, पर उनके प्रभावहीन भाषणका जनतापर जो

प्रभाव पड़ा वह सब प्रभावशाली व्यक्तियोंके भाषणोंसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ और तालियोंसे पण्डाल गूँज उठा। इसका अर्थ हुआ कि जनताके हित-राहत या समाज-व्यवस्थाके नव-निर्माणका कोई काम काँग्रेस हाथमें तेज़ीसे ले, तो जनताका आजका अवसाद उत्साहमें बदल सकता है और उसका पूरा सहयोग भी मिल सकता है। तो कमज़ोरी शिखरमें है नींवमें नहीं और यह नींव क्या किसी दिन ऊबकर स्वयं न हिल उठेगी ?

प्रस्तावके ठीक बीचमें एक रेला पण्डालमें आया और अव्यवस्था फैली तो स्वयंसेवक दौड़े कि नेहरू भिन्नाये हुए माइकपर आये, "यह मीटिङ् है या इन्दौरका बाज़ार कि जब चाहा खड़े हो गये या भाग पड़े। मैं इसे गवारा नहीं कर सकता। जो बैठना नहीं चाहते वे बाहर घूमें या घर जायें।" और जोरसे गरजकर स्वयंसेवकोंसे बोले, "बैठ जाओ, कोई उठे, तुम बैठे रहो, अब मैं किसीको खड़ा न देखूँ, साँप भी उठे, तो तुम मत उठो।"

लोग हँस पड़े। जवाहरलालकी घुड़कीपर भी लोग क्यों हँसते हैं ? उनकी आत्मीयतामें सबका अखण्ड विश्वास है और यह विश्वास ही उस ममताकी जड़ है, जो उनके प्रति सबमें फैली है।

इस भस्मासुरी गुस्सेके तुरन्त बाद बोले, 'श्री गुलजारीलाल नन्दाकी तबीयत बहुत अच्छी नहीं है, गला भी उनका पड़ा है, पर उनमें इतना जोश है कि वे कुछ-न-कुछ कहा ही चाहते हैं।" और वे इतनी शोख़ीसे मुसकराये कि सारा पण्डाल हँस पड़ा और हजारों फ़िल्मी मुसकराहटें मात हो गयीं।

यह हँसी ही जवाहरलालकी शक्तिका स्रोत है। वे नाराज़ होते हैं और हँस पड़ते हैं, सोचते हैं और हँस पड़ते हैं, थकते हैं, ऊबते हैं और हँस पड़ते हैं।

राजप्रमुख प्रथा-विरोधी प्रस्तावकी सूचना पाते ही जनतामें जोश उबल पड़ा और जब अनुमोदकने कहा, आप इसे एक मतसे पास करें, तो

पण्डालमें बाढ़-सी आयी पर पण्डितजीने एक ही वाक्यमें इस बाढ़को बाँध दिया, "आप सब, इसपर राय दें, पर मेरा मत तो इसके विरोधमें ही होगा, इसलिए एक मतसे तो यह पास नहीं हो सकता। सरकारोंके वादे यों नहीं बदला करते। मैं भी इसे बदलना चाहता हूँ, पर इस तरह कि भारत सरकारकी शानके लायक़ हो यह।"

यहीं नेहरू नेतृत्वकी पूरी मूडमें थे। लोकमत प्रस्तावके पक्षमें था, पर नेतृत्व विरोधमें। जवाहरलालजीने ठीक ही कहा, कभी हमें जनताके पीछे चलना पड़ता है, पर उसे नेतृत्व देना भी हमारा काम है।

प्रस्ताव वापस ले लिया गया, पर इसमें सन्देह नहीं कि राजप्रमुख प्रथा और प्रीवीपर्स दोनोंपर जवाल आनेकी यह घोषणा हो गयी।

अधिवेशन शेख अब्दुल्लाके भाषणपर समाप्त हो गया और मैं बाहर निकला। तीन भिखारी पण्डालके सामने ही भीख माँग रहे थे; जैसे पिसी मानवता पूछ रही थी, तुम्हारी यह आर्थिक व्यवस्था हम तक कब पहुँचेगी? मुझे लगा कि यह काँग्रेस और काँग्रेसके प्रोग्रामको दिया धरती-का चैलेंज है और इस अटाल चैलेंजपर दिया जानेवाला जवाब ही काँग्रेसके जीवन-मरणका निर्णायक होगा, पर आजकी शिथिलता, भावना-हीनता, तू-तू मैं-मैं और ला-लामें काँग्रेस सही समयपर यह जबाव दे सकेगी?

मेरे मकानके आस-पास

जहाँ मै आजकल रहता हूँ, उस स्थानकी नाप-जोख (सर्वे) इस प्रकार है : एक विशाल और शानदार कोठी दोमंज़िली। ऊपरके हिस्सेमे रहते है एक अप-टु-डेट सज्जन, जो अपने व्यापारके सिलसिलेमे बाहरसे आकर यहाँ रह रहे है। कोठीके मालिक उनके पार्टनर है। पुराने रईस है, अफ़सरोंसे भी मिलते हैं। आपकी पत्नी अद्भुत है। अपनी लडकीके साथ पढ़ रही है, सेकेण्ड ईयरमे। बड़ा सुखी परिवार है।

नीचेके हिस्सेमें स्वयं कोठीके मालिक रहते है। लाखों रुपयोंका कारबार है। स्वयं शिक्षित है, पत्नी सार्वजनिक क्षेत्रमे यश-प्राप्त है। किसी प्रकारका अभाव नहीं, दु:ख नहीं, सब भगवान्‌की कृपा है।

पासके क्वार्टरमे हिन्दीके एक यशस्वी पत्रकार रहते है। सहृदय, सज्जन, हँसमुख और सेवाशील। इनके परिवारमे एक पुत्र है, पुत्री है, विधवा भाभी है। पासके क्वार्टरोमे और दो भले परिवार रहते है और सामने ही रहता है, कोठीका भंगी, अपने झोंपड़ेमे। इसका परिवार बड़ा है। कई लड़के, लड़कियाँ, बहुएँ, बच्चे।

ज़रा बचकर सामने ही सात क्वार्टर है, जिनमें किरायेदार रहते है। सभी परिवार शिक्षित है, शरीफ़ हैं, कमाऊ है। बराबरीमे दो कोठियाँ है, जिनमे बड़े आदमी रहते हैं, जो सर्वथा सुखी है, प्रसन्न है। सामनेवाली तीन कोठियोंमे भी इसी प्रकारके परिवार रहते है, जिनके यहां अभाव नही, अभियोग नहीं, जो आरामकी ज़िन्दगी गुज़ारते है और वाक़ई जिन्हें सुखी कहना चाहिए।

अपने पलंगपर पड़ा मै अकसर सोचा करता हूँ, इस सारे क्षेत्रमे

सबसे छोटा, सबसे ग़रीब, दीन, ज़िम्मेदारियोंके बोझसे दबा जो परिवार है, वह उस भंगीका है। थोड़ी आय, बड़ा कुनबा, अछूतपनकी ग्लानि, अशिक्षा और अप्रतिष्ठा। सारे वातावरणमें वह ऐसा है, जैसे हिमाच्छादित कैलासके धवल शृंगोंके मध्य पड़ा कोई अँधेरा खड्ड! उसके बच्चोंको मैं अपने पास बुला लेता हूँ, पैसे देता हूँ, खिलाता हूँ, कहानियाँ सुनाता हूँ। पहले तो वे झिझकते थे, अब भेद पा गये है। रास्तेमें कुरता पकड़ लेते हैं और कभी-कभी तो ज़बरदस्ती पैसे वसूल करते हैं। इनकार करनेपर कहते हैं, अच्छा, जेब दिखाओ!

मैं अपने कमरेमें पड़ा सोचा करता हूँ, यह कैसी समाज-व्यवस्था है, जिसने एक मानवको कैलासका धवल शिखर और दूसरेको अन्धकार-भरा खड्ड बना छोड़ा है। और हम कैसे हैं कि नरकका यह बोझ ढोते चले जा रहे हैं, करवट लेकर उसे छातीपर-से उलट नहीं देते? यह परिवार हमारी समाज-व्यवस्थाका एक नमूना है—मर्मवेधी और स्पष्ट! पता नहीं इस परिवारमें प्रतिभाके कितने वरद पुत्र हैं, जो गायक, व्यापारी, लेखक और इंजीनियर हो सकते हैं, पर नहीं, उन्हें पाखाना ही ढोना है और हमारे इन 'ऊंचे' परिवारोंमें न जाने कितने अकर्मण्य और बुद्धू है, जिन्हे पाखाना ढोना चाहिए, पर नहीं वे लाला, बाबू और पण्डित ही रहेगे। यहाँ कोई 'क्यों' नहीं कह सकता, क्योंकि यह समाज-व्यवस्था है, धर्मकी आज्ञा है।

हम व्यापारकी धुनमें हैं, यशकी धुनमे है, लाभकी धुनमे हैं, पर असलमें तो आज एक ही धुन चाहिए कि यह समाज-व्यवस्था कैसे बदले और इस परिवर्तनमें हम अपना हिस्सा कैसे अदा करें।

'घिरि आयी रे बदरिया सावनकी!'

सावन प्रकृतिका यौवन है और इस सप्ताह तो यह यौवन पूरे उभारके साथ उतरा है। रोज़ रिमझिम, छमाछम लगी रहती है। 'बदरिया' तो

इस बार कुछ ऐसी जमी है कि बस जमी ही है। पृथ्वीपर हरीतिमा छा गयी है, वृक्षोंपर अमृत बरस पड़ा है, शुष्कता जैसे समुद्रमें जा डूबी, चारों ओर ताज़गी, जीवन और रस। हाँ, बस रस-ही-रस ! आख़िर यह सावन है, जिसमें कोई सूरदास हो जाये, तो बस उसे हरा-ही-हरा सूझे। कहते हैं सावनमें मनहूसोंमें भी मस्तीकी रमक आ जाती है।

यह वह मौसम है, जिसमें सूखे गड्ढे भर जाते हैं, अचल पृथ्वी भी मेढकोंके रूपमें मुखरित हो उठती है और खामोश पेड़ भी अपनी झिंगरियों-के स्वरमें झंकृत हो पड़ते हैं। सावन नीरवता, निष्पन्दता, जडता, अरसता और मनहूसियतके विरुद्ध एक प्राकृतिक विद्रोह है, जिहाद और क्रान्ति ! ओह यह सावन !

मैं अपने पलंगपर पड़ा सुन रहा हूँ, **घिरि आयी रे बदरिया सावन की**। लड़कियाँ और बहुएँ मिलकर गा रही हैं। कोमल कण्ठके साथ ढोलककी टुमक मिलकर एक समा बाँध देती है, जिसमें रूप है, रस है, जीवन है, यौवन है, पर कहीं दूर भी जिसमें वासनाकी छाया नहीं है।

भंगी भाईके परिवारने अपने झोंपड़ेके सामने खड़ी पूर्व जन्मकी सहेली-सी बूढ़ी बेरीकी कमर-से झुके तनेमें एक झूला डाल रखा है, उसमें रातके समय परिवारकी कन्याएँ और बहुएँ झूला झूल रही हैं, गा रही हैं और अपनी छोटी-सी ढुलकियाको टमकोर रही हैं। पासके सब मकानोंकी रोशनी बुझ गयी है, आवाज़ें सो गयी हैं और यह संगीत सारे वातावरणमें मौलसिरीकी भीनी गन्ध-सा व्याप रहा है। पता नहीं और कोई भी इसे सुनता है या नहीं, पर तल्लीन हुआ मैं सुन रहा हूँ। मेरी देह निश्चय ही इस समय इस युगमें है, पर मन चिर अतीतके उस गृहस्थमें रम रहा है, जहाँ प्रतिदिन कोई-न-कोई पर्व-त्यौहार अतिथि रहता था और जिसकी हर कड़ीमें गीतकी गाँठ थी – हमारा जीवन ही तब गीतमय था।

मैं अपने पलंगपर पड़ा सोच रहा हूँ। सावनकी यह मस्ती क्या इसी दीन परिवारपर बरसी है ? यह सबसे ग़रीब है, हीन है, अभाव-ग्रस्त है,

दुखिया है, फिर भी सावनकी इस फुहार-भरी बदरियाके तले यही क्यों गीतमय है ? जिनके घरमें धन भरा है, कोई अभाव नहीं, जो शिक्षित हैं, 'कल्चर्ड' हैं, जिन्हे संगीतका ज्ञान है, 'टेस्ट' है, जिनके यहाँ रेडियो है, ग्रामोफ़ोन है, सिनेमा जिनके जीवनकी एक जरूरत है, उनके महलोंके दीप्तिमान् बल्ब बुझे पड़े है और इस ग़रीबकी झोंपड़ीका यह टिमटिमाता दीपक अभीतक प्रकाश-दान करता जा रहा है। क्या सावन इसी झोंपड़ीका अतिथि है ? उन ऊँची अट्टालिकाओंसे वह रूठ गया है ?

सघन कण्ठोंका वह संगीत मेरे रोम-रोममें पुलक बनकर छा रहा है और प्रत्येक पुलकमें उसीका स्पन्दन मुझे सुनाई देता है। कहीं कोई दूसरा स्वर नहीं है, शब्द नहीं है, जैसे यह सारी सृष्टि ही इस समय गीतमय हो उठी है।

और तभी, भावनाके उस घने आवेशमे भी ज़रा सचेत-सा मैं सोच रहा हूँ। इस दैवी चमत्कारका स्रष्टा कौन है ? यह अमृत-वर्षा समाजके इस आँगनमें कौन कर रहा है ? मन मेरा कराह उठा है, यह देखकर कि उस स्रष्टाको मेरे समाजने कुछ नहीं दिया, जो दिया बस विष-ही-विष दिया। तभी एक प्रश्न मनमें झाँक उठता है : समाजका यह विषपायी सावनकी इस अँधियारीमें अमृतकी वर्षा कर रहा है और ये जो चारों ओर समाजका अमृत पीनेवाले सो रहे है, अमृतकी इस वर्षामें भी निष्पन्द है ? यह क्यों ? और मन मेरा जैसे सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हो समाजकी तह-तहमें उतरा जा रहा है।

हमारे समाजमें जो ऊँचा है, सम्मान्य है, उसने अपनेको प्रकृतिसे पृथक् कर लिया है। उसके भीतर अवकाश नहीं, व्यस्तता है। उसने स्नेह, ममता, दया, बन्धुत्व और सौहार्दके स्थानमें पश्चिमसे उधार लेकर टैक्ट और धन-लिप्साको अपनेमें समा लिया है और उसकी दशा उस वृक्ष-जैसी

है, जिसे सफ़ाईके साथ बीचसे काटकर मूलसे सम्बन्ध-विच्छिन्न कर दिया गया है, पर ऊपरसे जो मूलके साथ मिला, ज्योंका त्यों खड़ा है।

अब यह वृक्ष अपनी मूलपर ज्योंका त्यों खड़ा है, पर उससे यह जीवन रसका ग्रहण नहीं करता। जीवन-रसके इस अभावमें वृक्ष सूखने लगता है, उसकी हरीतिमा सूखी पीतिमामें परिणत हो जाती है। हम विदेशका हरा रंग और वार्निश लेकर उन सूखे पत्तोंपर फेर देते हैं। अब वे पत्ते हरे हैं, चमकीले हैं और देखनेमें सुन्दर भी हैं, पर उनमें अपना जीवन नहीं है। यही दशा हमारे सम्मान्य ऊँचे वर्गकी है। उसका सम्बन्ध व्यापारसे है, व्यवसायसे है, विज्ञानसे है, सभ्यतासे है, पर यह व्यापार, व्यवसाय, विज्ञान और सभ्यता उसकी नहीं है, उसकी जातिकी नहीं है, सब विदेशियोंकी है, ग़ैर है। फलस्वरूप उसमें रंग है, रौनक़ नहीं है, ऊँचाई है, उभार नहीं है, ग्रहण है, दान नहीं है, 'एग्रीमेण्ट' की बारीकियाँ हैं, कविताकी भावधारा नहीं है। उसका मानस-पात्र भरा है, लबरेज नहीं है, फिर वह छलके कहाँ? जिस बादलमें घुमड़न नहीं, वह फुहार क्या देगा?

और मैं फिर अपने पलंगपर पड़ा अनुभव कर रहा हूँ, सारा वातावरण उसी मधुर-मस्त टुमकसे भरा है और सारी प्रकृति उसमें डूबी, नहायी, नग्न बालिका-सी सिमटी, भावलीन है। मन मेरा फिर विचारोंमें डूब चला है। कमलकी सृष्टि कीचमें है और इस गीत-धाराकी मान-अभाव-भरे जीवनमें। मैं उसी जीवनपर कल्पनाकी दृष्टिसे एक सरसरी नजर डाल रहा हूँ। इस लघु-जीवनका सम्बन्ध अभी मूलके साथ है, यह मूलसे जीवनका रस ग्रहण करता रहता है पर इसके पत्तोंमें, जीवनके विकासमें, ग़रीबी और सामाजिक पदहीनताके कीटाणु हो गये हैं, जो इसे पनपने, लहलहाने नहीं देते। मूलसे इसे जीवन-रस न मिलता, तो यह कभीका सूख जाता!

गीतकी रस-धारामें बहते-बहते मेरी पलकें अब भारी हो गयी हैं और

नींद उनपर अपना डोरा डाल रही है। कानोंकी ग्रहण-शक्ति कम हो चली है, मस्तिष्कमें तन्द्रा है और गीतका स्वर इससे और भी भीना, मधुर हो गया है – प्रकृति जैसे थिरकती-थिरकती, धीरेसे नृत्यकी विशेष मुद्रामें आकर स्थिर हो गयी है। मन वर्त्तमानकी धारासे फिसलकर भावीकी चिन्तामें रम चला है – निंदियाया मन, मेरा मन !

आँखें झप रही हैं और इसी ख़ुमार-भरी झपझपीमें मैं देख रहा हूँ दूरसे परिवर्त्तनके पंखोंपर बैठा भावी युगका धन्वन्तरि आ गया है। उसने यह लो, एक ही धक्केमें उस मूलहीन वृक्षको गिरा दिया है और अपने कलशसे उस दिव्यात्माने दूसरे रोगी वृक्षपर अमृतकी बूँदें डालकर उसे रोगहीन, जीवनपूर्ण, फिरसे लहलहाता कर दिया है।

आजके वातावरणसे और भी दूर अपने उसी पलंगपर पड़ा-पड़ा मै तन्द्राकी झपझपीमे देख रहा हूँ। उस गिरे वृक्षको चीर-फाड़, लोगोंने ईधन कर जलाना आरम्भ कर दिया है। साथ ही सूखे वृक्षपर बौर लदा है, जिसकी महकसे कोना-कोना भरा है और विश्व उससे फलदानकी आशामें आँखें बिछाये प्रार्थी है।

मेरी तन्द्रा नींदमें बदल रही है। गीतकी ध्वनि और भी मन्द-मधुर हो चली है। अब ध्वनि नहीं, झंकार है और इसी धुँधली-सी चेतनामे मैं सोच रहा हूँ – विदेशी रंग और पॉलिशके दर्पसे दीप्त यह ऊँचा वृक्ष आज नहीं सोचता कि कल उसे अग्निभोज बनना है और आजकी दीनतामें दबा यह दूसरा वृक्ष भी अनुभव नहीं कर पाता कि कल उसे इसी विश्वको अपनी सुगन्धसे भर देना है।

गीत और भी मीठा हो चला है, अनहद नाद-सा और ढोलकको टम-कोर बूँदोंकी टप-टप-सी प्यारी। उँगलियाँ ढोलकपर खेल रही हैं। बस, आ गया सम, पड़ो थाप और मेरी चेतना उसीमें रम गयी।

दो दिन : दो गोष्ठियाँ

गदराये यौवनकी अमराइयोंमें जब मेरी चेतना पहली अँगड़ाइयाँ ले रही थी, डूब-डूबकर, झूम-झूमकर, कभी गाते, कभी गुनगुनाते राष्ट्रीय पुनरुत्थानके महाकवि श्री मैथिलीशरण गुप्तकी युग-रचना 'भारत-भारती' मैंने पढ़ी थी।

उस पीढ़ीकी गीता ही थी 'भारत-भारती'। उससे प्रेरणा मिली थी, इरादोंने मुट्ठियाँ बाँधी थीं, चेतनाने पंख पसारे थे, पर यह सब जैसे इस एक ही पंक्तिमें समा गया था :

"हम कौन थे ? क्या हो गये हैं ? और क्या होंगे अभी ?"

इस पंक्तिमें तीन रंग थे – अतीतका गौरवसे भरा, वर्त्तमानका गुलामीके दर्दसे भरा और भविष्यका स्वतन्त्रताकी आशासे भरा। इस तरह दो युगोंसे अधिक समय तक इस पंक्तिका साथ रहा और तब आया १५ अगस्त १९४७ – भारतकी स्वतन्त्रताका दिन। मन उस दिन विचारों-का समुद्र हो गया, लहरपर लहर, लहरपर लहर – कुछ स्पष्ट, कुछ धुंधली। उन्हींमें यह भी एक – क्या युग-युग-संगिनी इस पंक्तिका साथ आज छूट गया ? उत्तरमें हाँ, क्योंकि हमारा अतीत महान् था, वर्त्तमान हीन हो गया था, अब स्वतन्त्रताके साथ हमने खोयी महत्ता फिर पा ली, पर मन इस हाँमें हाँ मिलानेको तैयार नहीं जैसे उसकी कोई बहुमूल्य वस्तु बलपूर्वक छिन रही हो।

जहाँ चाह तहाँ राह, तो चाह है कि इस पंक्तिका साथ बना रहे और राह है उसकी यह व्याख्या – हम गुलाम थे, स्वतन्त्र हो गये हैं और अब हमें अपने महान् राष्ट्रके निर्माता – नागरिक होना है। ओह छिनते-

छिनते बच गयी मेरी युग-युग-संगिनी और इस ख़ुशीमें राष्ट्रके अतीत और भविष्य मिलकर एक गहरे चिन्तनमें समा गये।

इस चिन्तनको पूर्णता मिली उस दिन लाला जगतप्रसादकी बातचीतमें। वे अपने कोल्ड स्टोरेज़की प्रक्रिया मुझे बता रहे थे कि कैसे फ़सलपर उसमें आलू रख दिये जाते हैं, ठण्डकके द्वारा कैसे उन्हें बाहरी प्रभावोंसे प्रिज़र्व (सुरक्षित) किया जाता है और बादमें कैसे उन्हें बाज़ारमें भेजा और बेचा जाता है। जगतप्रसादजी किसी भी स्थितिमें हों, उनकी बातोंका रस और प्रवाह कभी खण्डित नहीं होता। इस प्रवाहमें मेरी चेतना जिस किनारे लगी, वह था यह कि राष्ट्रकी संस्कृति जब समाजके छोटे-छोटे राज्योंमें बँटने और बाहरी आक्रमणोंका ताँता लगनेके कारण सुरक्षित न रही, उसके नष्ट होनेका ख़तरा पैदा हो गया, तो सन्तोंने उसे तीर्थोंमें, सामाजिक समारोहोंमें और प्रथाओंमें बाँधकर और परिवारको व्यक्तिगत जीवनकी और जातिको सामाजिक जीवनकी मुख्य इकाई बनाकर सुरक्षित कर दिया, प्रिज़र्व कर दिया कि वह अच्छा समय आने तक बची रहे। भारतकी स्वतन्त्रताका उदय वही चिर-प्रतीक्षित अच्छा समय है – अब हमारी संस्कृतिको कोई ख़तरा नहीं उसके उगने-पनपने और फैलनेका यह समय है।

अपने इस चिन्तनको मैंने एक लघु कथामें इस प्रकार सँजोकर रख दिया :

नन्दन अपने गाँवका एकमात्र धनी था। सारे गाँवमें उसकी ऊँची हवेली दूरसे दिखाई देती थी। आस-पास चारों ओर उसका नाम फैला हुआ था।

उस दिन ख़बर उड़ी कि आज सन्ध्याके समय गाँवमें डाका पड़ेगा और ख़बर क्या उड़ी, गर्वोन्मत्त डाकू सरदारने ख़ुद ही यह ख़बर भेजी थी। गाँवमें और तो सब ग़रीब थे, डाकू भला उनका क्या लेते – क्या बिगा-

ड़ते। उनके लिए तो ग़रीबी आज रक्षाकवच थी। वे पूरी तरह विश्वस्त थे कि डाकेका नोटिस नन्दनके नाम ही है।

नन्दन भी यह जानता था। वह उस दिन, दिन-भर अपनी हवेलीके किवाड़ बन्द किये भीतर घुसा रहा। कैसे वह डाकुओंसे अपने माल, मान और प्राणकी रक्षा करे, यही उसकी चिन्ता थी।

सोच-विचारकर उसने अपना ज़ेवर और धन अपनी हवेलीके पीछेवाले उपवनमें जगह-जगह बिखेर दिया। मोतियोंका हार नेवलेके बिलमें रखा, तो सोनेकी बोरी कुएँमें डाल दी, गिन्नियाँ खादके गड्ढेमें दबायीं तो रुपयोंकी थैलियाँ बूढ़े बड़की खोखरमे भर दीं। यही उसने दूसरे क़ीमती सामानका किया।

उसकी हवेलीके पिछले हिस्सेमें एक बड़ा-सा गड्ढा था। उसमें वह स्वयं बैठा और अपने ऊपर उसने एक टूटा-सा टोकरा ढाँक लिया। सन्ध्या होते ही हवेलीका द्वार उसने खुलवा दिया और एक भी कमरा ऐसा नहीं छोड़ा, जिसका द्वार बन्द हो या जिसमें कुछ भी व्यवस्थित हो। उसे उस गड्ढेमें बैठे टोकरीकी झिरखियोंसे सारी हवेली दिखाई दे रही थी।

दलबलसहित रातमें डाकू आये, तो वे सीधे नन्दनकी हवेलीपर पहुँचे। उन्हे विश्वास था कि वहाँ एक पूरे युद्धकी तैयारी होगी, पर यहाँ तो द्वार खुले हुए थे। चौंकते-सँभलते वे भीतर घुसे, पर हवेली तो बिखरी-सी पड़ी थी।

"भाग गया शैतान और सारी दौलत भी साथ ही ले गया।" डाकुओं-के सरदारने कहा और वे सब हाथ मलते लौट गये। नन्दनका दिल पहले तो धड़कता रहा, पर अब वह मुसकरा रहा था।

-

दूसरे दिन गाँवके बड़े-बूढ़ोंने नन्दनके धैर्य और बुद्धिमत्ताकी प्रशंसा की, पर कई दिन बाद भी उन्होंने नन्दनको उसी गड्ढेमें अपनेको ढँके बैठे देखा, तो उन्हें आश्चर्य हुआ।

उन्होंने उसे समझाया कि अब कोई ख़तरा नहीं है। अपने घरको फिरसे व्यवस्थित करो, अपनी सम्पदाको सुन्दर अलमारियोंमें सजाओ और स्वयं भी अपने सुखद पर्यंकपर सोना आरम्भ करो।

नन्दन सबकी सुनता है, सिर हिलाता है, पर मानता नहीं। कहता है, जिस पद्धतिने मेरे प्राण बचाये, धन-सम्पदाकी रक्षा की, उसका त्याग भला मैं कैसे कर सकता हूँ?

सब उसे समझाते हैं कि वह संकट-कालकी नीति थी। उस समय उसका व्यवहार करनेके लिए हम तुम्हारी प्रशंसा करते है, पर आज तो उसका पालन एक विडम्बना है। कल जो सुरूप था, आज वह कुरूप है। जब वह परिस्थिति ही नहीं तो वह नीति-पद्धति कैसे ठीक रहेगी? उसे छोड़ो और अपना रूप ग्रहण करो।

नन्दन बहसें करता है और एकसे एक बढ़कर तर्क खड़ा करके उस पद्धतिका समर्थन करता है। सब देखते है कि उसकी सुन्दर हवेली सूनी और उजड़ी पड़ी है और उसकी धन-सम्पदा भी पोखरां-गड्ढोंमें बिखरी है। बातचीतसे अनुमान होता है कि अब वह यह भी भूलने लगा है कि कौन चीज़ किस खोखर या गड्ढेमें है, पर वह सन्तुष्ट है और स्वयं उस टोकरेसे ढंके गड्ढेको ही अपना शयनकक्ष बनाये हुए है।

श्रद्धामें डूबकर वह उन खोखरों-गड्ढोंको पुकारता है रीति-प्रीति और उस बड़े गड्ढेको कहता है जन्मकूप।

सब देखते है कि उसकी सुन्दर हवेली सूनी-उजड़ी पड़ी है, उसकी धन-सम्पदा उन गड्ढों-खड्ढोंमें बिखरी है और वह स्वयं भी उस टोकरेसे ढँके गड्ढेको ही अपना शयनकक्ष बनाये हुए है।

अँगरेज़ोंने अपने लगभग दो शताब्दीके शासनमें भारतको सांस्कृतिक और बौद्धिक दृष्टिसे नष्ट-भ्रष्ट करनेके योजनापूर्ण प्रयत्न किये थे। उन्हे जो सफलता मिली, उसका साक्षात्कार मुझे पहली बार हुआ।

उन सर्वनाशी प्रयत्नोंके बाद भी, सन्तोंके द्वारा सुरक्षित – प्रिजर्व की गयी हमारी संस्कृतिमें जीवित रहने और फैलनेकी इच्छा एवं शक्ति कितनी फ़ौलादी है, इसका साक्षात्कार भी मुझे पहली बार हुआ।

ये दोनों साक्षात्कार मुझे टाइम्स ऑव इण्डिया बम्बई और भारतीय ज्ञानपीठ कलकत्ता-द्वारा संयुक्त रूपसे संयोजित उन गोष्ठियोंमें हुए, जो पहली-दूसरी अप्रैल १९६२ को भारतकी राजधानी नयी दिल्लीमें हुई और जिनमें सम्मिलित होनेका अवसर मुझे भी मिला।

यों तो जलसे-जुलूस-गोष्ठियाँ १९२० से मेरे जीवनका वैसा ही अंग रही हैं, जैसे व्यापारीके लिए हिसाब-किताब, पर इन गोष्ठियोंमें भाग लेकर मुझे असाधारणताका अनुभव हुआ – विराट् राष्ट्रकी महान् संस्कृतिके सम्पर्क-तादात्म्यका बोध हुआ और इस प्रकार दिल्लीके ये दो दिन मेरे लिए सदा-सदाको स्मरणीय हो गये, क्योंकि इन दो दिनोंमें मैंने युग-युगोंसे दबी संस्कृतिकी बेलमें नये पत्ते उगते देखे – प्रिजर्वको ग्रोमें बदलते देखा और मुझे लगा कि हमारे राष्ट्रके सांस्कृतिक पुनर्जन्मकी झाँकी ही मैं अपनी जागती आँखों देख रहा हूँ।

पंजाब नेशनल बैंककी विशाल बिल्डिङ्गका भव्य गोष्ठी-भवन, साहू शान्तिप्रसाद जैनकी निर्माण-प्रतिभाका प्रतीक-सा। देशके अनेक भागोंसे आये, अनेक भाषाओंके प्रतिनिधि कोई दो-सौ साहित्यकार अपने-अपने आसनपर, सभापतिके आसनपर भारतीय ज्ञानपीठकी व्यवस्था-मूर्ति अध्यक्षा श्री रमा रानी जैन और उनके पास प्रतिभाशाली साहित्यकार और 'धर्म-युग'के सफल सम्पादक श्री धर्मवीर भारती – गोष्ठीके संयोजक।

भवन, एयर कण्डीशण्ड कि गरमी आये या सर्दी, रहे बाहर ही – बाहरी प्रभावोंसे अछूते योगीके मन-सा, फ़ोटो-ग्राफर तैयार कि कोई सामने आये, तो उसे सदाको छाप ले, टेपरिकार्डिङ्गकी मशीन सावधान कि कोई कुछ बोले, तो उसे सदाको टीप ले और जागरूक माइक कि हर झोने

शब्दको भीने रसमें पागकर हरेकके कान तक पहुँचा दे।

यों ऐहिक अमरताके वैज्ञानिक साधनोंसे समन्वित वातावरण कि माइकके सामने श्री प्रतापराय – टाइम्स ऑव इण्डियाके जनरल मैनेजर – उत्सवकी भाषामें आजके स्वागताध्यक्ष। भरा-उभरा व्यक्तित्व, गहराइयोंसे उभरती-सी आवाज़ और सधे-तुले शब्द कि थोड़ेमें स्वागत भी और विचार-विषयका परिचय भी।

आकृतिमें उम्रकी तरुणाई तो प्रकृतिमें अनुभवकी प्रौढ़ता, खादीके कुरते-पाजामेपर बम्बइया जवाहरकट कि नीचेकी तरफ़ बस एक बटन और गहरे कलफ़पर दाबदार हाथसे की गयी इस्तरीके बल, ऊपरको उभरती-खुलती कि जैसे वह बण्डी न हो, नये फ़ैशनका कॉलर ही हो – सब कुछ एकदम बुर्राक, ये आये माइकपर श्री धर्मवीर भारती।

टाइम्स ऑव इण्डिया-प्रकाशन बम्बईने योजना बनायी है कि हिन्दीकी पुस्तकोंका (आगे चलकर संविधान-स्वीकृत सभी भाषाओंका) अँगरेज़ीमें अनुवाद कर उन्हें विदेशी पाठकोंके सामने रखा जाये – विश्वमें फैलाया जाये। इस योजनाको हाथमें लेते ही कुछ प्रश्न सामने उठकर उभर आये हैं। उनका समाधान खोजना ही गोष्ठीका उद्देश्य है।

मुख्य प्रश्न है अनुवादके लिए पुस्तकोंके चुनावका। भारतीय साहित्यकारोंके लेखनकी प्रकृति और विदेशी पाठकोंकी अभिरुचिमें साम्य-वैषम्यका अनुपात देखकर क्या यह उचित है कि हम भारतीय जीवन-दृष्टिको प्रधानता दें? यदि हाँ, तो वह जीवन-दृष्टि क्या है? या फिर पुस्तकोंकी कलात्मक श्रेष्ठताको ही प्रधानता दें, जिससे यह सिद्ध हो सके कि विश्वके सामयिक साहित्यमें भारतीय लेखकोंका भी एक अपना स्थान है? इन दोनोंको लें, तो समुचित अनुपात क्या हो?

और यों गोष्ठी आरम्भ हो गयी। जन्मसे महाराष्ट्रीय, पर कर्मसे गुजरातीके साहित्यकार राष्ट्रसाधक काका कालेलकर माइकपर। राष्ट्रीय वेष, राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय दृष्टि – भाषण सरस भी, सबल भी,

सुझावपूर्ण भी, देखकर मन प्रसन्न हुआ, सुनकर सन्तुष्ट और तब भाषण-ही-भाषण।

भाषण-कर्त्ताओंमें ज्ञानी भी, अनुभवी भी – ज्ञानी उलझे हुए, अनुभवी सुलझे हुए, ज्ञानी लच्छेदार, अनुभवी सादे। भाषाकी दृष्टिसे अँगरेजीकी भरमार, कहूँ बाढ कि भारतका किनारा कहीं हाथ ही न आये, जैसे अँगरेज़ अपना राज्य अपने मानस-पुत्रोंको सौंपकर गये हों, भारतकी जनताको नहीं।

कोई तीन घण्टे यह विचार-चर्चा चली। मेरा चिन्तन यह था – अनुवादके लिए पुस्तकके चुनावकी कसौटी यह हो कि उससे भारतके सम्बन्धमें विदेशी पाठककी सम्मति ऊँची बने और हर पुस्तकमें ऐसी भूमिका रहे, जो भारतकी प्रकृतिसे पाठकको आरम्भमें ही इस तरह परिचित करा दे कि वह पृष्ठभूमिको समझा रहे। उदाहरणके लिए प्रेमचन्दके गोदानका अनुवाद हो, तो भूमिकामें ज़मींदारोंके समयमें भारतीय देहातोंकी स्थितिका परिचय हो।

भोजनके बाद गोष्ठीकी दूसरी बैठक, सभापतिके आसनपर श्रीराघवन तमिल तथा संस्कृत भाषाके समर्थ विद्वान् और दक्षिण भारतके यशस्वी साधक; शान्त-सौम्य विशिष्ट व्यक्तित्व।

विचारणीय विषय अनुवाद-प्रक्रिया कि :

१. किस प्रकारके ग्रन्थोंमें मुक्त अनुवादकी गुंजाइश है ?

२. अनुवादमें अंगरेजी मुहावरोंकी चुस्ती लानेके लिए क्या किया जाये ?

३. जिन शब्दोंका प्रचलित अँगरेजी रूप नहीं मिलता, उनके सम्बन्धमें क्या नीति अपनायी जाये ?

४. क्या भारतीय मुहावरोंको ज्योंका-त्यों उतारें ?

५. जिसे भारतीय अँगरेज़ी कहा जाता है, उसके उपयोगके सम्बन्ध-

में हमारा दृष्टिकोण क्या हो ?

६. क्या छन्दबद्ध कविताओंका अनुवाद अँगरेजी छन्दबद्ध तुकान्तमें होना चाहिए या अँगरेज़ी मुक्त छन्दमें ?

भाषणोंकी झड़ियाँ और सुझावोंकी लड़ियाँ आरम्भ, पर बाप रे, अँगरेज़ी-ही-अँगरेज़ी, यहाँतक कि अगरेज़ोंको तरह अँगरेजी बोलनेवाले अध्यक्षको कहना पड़ा कि 'मैं अच्छी तरह हिन्दी समझता हूँ, आप लोग हिन्दीमे बोलें !' – पर कोई असर नहीं, अँगरेज़ी-ही-अँगरेजी ।

और कह क्या रहे थे ये काले अँगरेज़ ? अपनी-अपनी राय दे रहे थे हिन्दीसे अँगरेज़ीमे अनुवाद करनेकी दिक़्क़तोंपर, पर एक बात सब समान रूपसे कह रहे थे कि अनुवाद करनेके लिए या किये हुए अनुवादोंका सम्पादन-संशोधन करनेके लिए अँगरेज़ विद्वानोंका सहयोग जरूरी है, अनिवार्य है, इसके बिना प्रामाणिक अनुवाद हो ही नहीं सकता ।

मुझे स्वर्गीय व्यायामाचार्य प्रोफेसर राममूर्ति याद आ गये । उन्होंने अपनी युरोप यात्राके बाद १९१२-१३ मे लिखा था कि इंगलैण्ड जानेवाले भारतीयोंको सिरपर साफा बाँधना चाहिए, क्योंकि हैट लगानेवाले भारतीयोंको आम लोग भारतीय ईसाई मानते है और विदेशी पादरी भारतमे चाहे जो कहें, इंगलैण्डमे भारतीय ईसाइयोंको लोग नफ़रतकी निगाहसे देखते है ।

वही हाल अँगरेजीके इन भारतीय भक्तोंका है । अँगरेजी कविताके कारण सरोजिनी नायडू भारत-कोकिला हो गयीं, पर इंगलैण्डमे छपे किसी भी महत्त्वपूर्ण कविता-संकलनमे उन्हें किसी अंगरेजने स्थान नहीं दिया ।

मनमे विचार आया कि डेढ़ सदी तक, डण्डेके जोरसे, गला घोटकर अँगरेज़ तीन फ़ीसदी भारतीयोंको ही जिस भाषाका साधारण ज्ञान करा सका और उसके विद्वानोंको इस लायक़ भी नहीं बना सका कि वे उसमे अनुवाद करके ही साहित्यके तीसमारखाँओंमें अपना नाम लिखा लें, उस भाषाकी हिस्टीरिया जिन लोगोंके सिर इस क़दर सवार है कि वे अपनोंमें

अपनी देश-भाषा जानते हुए भी उसे बोलना पसन्द न करें, उन्हें देशके दुर्भाग्य-कालकी कम्बख्त पीढ़ीके अतिरिक्त क्या कहा जाये और जब देशका नैतिक और राजनैतिक नेतृत्व भी उसी पीढ़ीके हाथमें हो, तो क्या सोचा जाये ?

यह सच है कि अनुवादका काम सरल नहीं है। इस सम्बन्धमें बहुत कुछ कहा गया, पर सर्वोत्तम वह था, जो स्वयं डॉ० राघवनने कहा, "अनुवाद और नारीमें एक बड़ी समानता है कि अनुवाद यदि रोचक होते हैं, तो शुद्ध नहीं होते और शुद्ध होते हैं, तो रोचक नहीं होते।"

सुनकर मुझे भारत-सरकारके पूर्व सूचना-मन्त्री डॉ० केसकर याद आ गये। उन्होंने रेडियोके एक साहित्य-समारोहका उद्घाटन करते हुए कहा था, "अनुवादके द्वारा हम पाठकको कृतिका मूल सौन्दर्य नहीं दे सकते यह सच है, पर उसका प्रतिच्छवित सौन्दर्य (रिफ्लैक्टेड ब्यूटी) दे सकते है, यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं।"

फिर सबसे बड़ी बात यह है कि अभीतक संसारमें यही हुआ कि दूसरी भाषाके रत्नोंका विद्वानोंने अपनी भाषामें अनुवाद किया है। इस प्रयत्नकी महत्ता और नवीनता ही यह है कि यहाँ विद्वान् अपनी भाषाके रत्नोंका दूसरोंकी भाषामें अनुवाद करनेके लिए प्रस्तुत-प्रवृत्त है।

क्या यह हीनता है ? क्या यह थोपना है ? नहीं, यह परसना है, प्रतिदान है, कहूँ राष्ट्रीय सत्कर्म है। इससे भी बढ़ूँ, तो कहूँ कि यह अतीतमें महान् विवेकानन्दके द्वारा आरम्भ किये संस्कृति-व्रतका तप-साध्य उद्यापन है।

"दीवानजी, आज तुम मुझे सड़कके बीच बैठकर सब्जी बेचनेपर गालियाँ दे रहे हो, दे लो, कोई बात नहीं, पर गान्धी महाराजका नाम तो सुना होगा तुमने ! वे हमें आजादी दिलानेवाले है। उस दिन देखना, मैं सड़कके बीचमें यहीं झोंपड़ी बनाकर बैठूँगा।"

गुलाम भारतके किसी कुंजड़े भाईने अँगरेजी राजके किसी पुलिस-

दीवानको यह जवाब दिया था। स्पष्ट है कि जनता विविध बन्धनोंसे जकड़ी थी और उसकी कल्पनामें सब अभावों-इच्छाओंकी पूर्तिका समावेश आज़ादीमें था। यही कारण है कि गुलामीके हटते ही जन-मन स्वाधीनता-की ओर नहीं, स्वतन्त्रताकी ओर बढ़ा और बन्धनोंकी कसमसाहट इतनी व्यग्र थी कि यह स्वतन्त्रता शीघ्र ही स्वच्छन्दताके तट जा लगी। तब सामने आये भाषाके मोर्चे, जिनपर असमी, बंगाली, मराठे, गुजराती, सिख, हिन्दू इस तरह लड़ते दिखाई दिये, जैसे वे जन्म-जन्मके वैरी हों और उनमें मतभेद नहीं, जन्मजात शत्रुता हो। बम्बई और पंजाबमें इस शत्रुताका जो प्रदर्शन हुआ, उससे देशकी एकता ही ख़तरेमें पड़ चली; क्योंकि अब देशके लिए भाषा नहीं, भाषाके लिए देशकी बलि देनेका उप-क्रम हो रहा था।

कितनी विचित्र बात है कि भाषा, जो मनुष्यको मनुष्यके पास लाती है, मनुष्य-मनुष्यकी एकताका वाहन बनती है, मनुष्यको मनुष्यसे ख़ूंख़ार भेड़ियोंकी तरह लड़ा रही थी; क्योंकि वह सहयोगकी राह भूल, संघर्षके पथ जा चढ़ी थी। पनपती देश-वल्लरीके लिए यह स्थिति भयावह थी और राष्ट्रकी बौद्धिकता चिन्तित थी कि क्या राष्ट्रकी पन्द्रह भाषाओंके बीच स्वस्थ सम्पर्कका कोई मंच नहीं हो सकता, जहाँ सब समान अधि-कार और समान दायित्वके साथ बैठें, मिलें और देखें कि वास्तविक परि-स्थितियाँ भावात्मक हैं, अभावात्मक नहीं, संयोगात्मक है, वियोगात्मक नहीं, सम्पर्कात्मक हैं, संघर्षात्मक नहीं; संक्षेपमें संगठनात्मक हैं, विघट-नात्मक नहीं।

२ अप्रैल १९६२ को प्रदेश-प्रदेशसे पधारे विविध भाषाओंके समर्थ साहित्यकारोंकी उपस्थितिमें जब भारतीय ज्ञानपीठकी अध्यक्षा श्रीमती रमा रानी जैनने भारतीय ज्ञानपीठ-पुरस्कारकी घोषणा की, तो लगा कि यह उस स्वस्थ सम्पर्क मंचके उद्घाटनकी ही घोषणा है।

उनकी घोषणाके शब्द थे, "लेखक यद्यपि आभ्यन्तर बाध्यताके

कारण लिखता है और कई अन्य कारणोंके योगसे ही कोई कृति क्लैसिक बन पाती है, तो भी सामाजिक मान्यता तथा उसकी प्रतिभाके फलके प्रति समूचे राष्ट्रका ऋणी-भाव लेखकको आश्वस्त करते हैं कि उसकी कृतियोंको व्यापक रूपसे पढा जाता और समादृत किया जाता है। राष्ट्रीय पुरस्कार तथा भेंट सब इसी मान्यताके प्रतीक हैं।

भारतमें, जहाँ प्रत्येक भाषाकी अलग-अलग सर्वश्रेष्ठ कृतिके लिए कितने ही प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय पुरस्कार है, वहाँ कोई ऐसा पुरस्कार नहीं है, जो इन सब भाषाओंकी कृतियोंमें-से चुनी हुई सर्व-श्रेष्ठ कृतिके लिए हो। ऐसे पुरस्कारकी संस्थापना राष्ट्रीय आवश्यकता है और ऐसा पुरस्कार मूल्य एवं मात्रामें इतना प्रचुर भी होना चाहिए कि राष्ट्रीय गौरव तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डोंके अनुरूप हो।

भारतीय ज्ञानपीठ नामक शोध एवं सांस्कृतिक प्रतिष्ठानकी स्थापना संस्कृत, प्राकृत, पाली, तमिल आदि भाषाओंके अनुपलब्ध एवं अप्रकाशित प्राचीन भारतीय वाङ्मयके प्रकाशन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओंमें सर्जनात्मक साहित्य रचनाको प्रोत्साहन देनेके उद्देश्यसे श्री शान्तिप्रसाद जैन-द्वारा १९४४ में हुई थी। उसकी योजना है कि समस्त भारतीय भाषाओंमे सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोपरि साहित्यिक सृजनात्मक कृतिपर एक लाख रुपये प्रतिवर्ष पुरस्कार-दानके निमित्त अपेक्षित निधि प्रस्तुत कर, योजनाका संचालन करे।

प्रत्यक्ष ही कार्य अत्यन्त कठिन है, पर कठिनाई अलंघ्य नहीं है। राष्ट्रीय महत्त्वका यह कार्य सम्पन्न करना ही है, फिर उसमे जितना भी श्रम पड़े और जो भी व्यय हो।''

और यों विचार-गोष्ठी आरम्भ हो गयी। गोष्ठीके संयोजक है श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन : सधे-संयत व्यक्ति और स्वर ऐसा कि लगे कहीं दूरसे

छनकर आ रहा है – एकदम सन्तुलित और स्निग्ध। कहूँ एक अन्तर्मुख कर्मलीन व्यक्तित्व। उन्हें मैं कोई पचीस वर्षोंसे देख रहा हूँ निकटसे, दूरसे। एक गहरी रचनात्मक प्रतिभाके स्वामी हैं वे और यद्यपि उन्होंने कम लिखा है, पर यह कम मात्रामें भले ही कम हो, यात्रामें कम नहीं है – चिरस्थायी है। गंगा वोल्गाके संगमपर, असीम आकाशके बियाबानमें और एक डाकू, दो खत, तीन दृष्टियाँ जैसे उनके रिपोर्ताज़ अपनी जीवन-दृष्टि और शिल्प-शैलीके कारण युगकी सर्वश्रेष्ठ कृतियोंमें निश्चय ही स्थान पायेंगे।

उनके निमन्त्रणपर वय-साधना-अनुभव-वृद्ध काका कालेलकरने अपनी प्रशस्त शैलीमें पुरस्कार-योजनाका स्वागत और पुरस्कर्ताओंका अभिनन्दन किया। यह स्वागत और अभिनन्दन इतना भाव-भीना, इतना हार्दिक कि गोष्ठीका वातावरण इतना मांगलिक हो उठा कि जैसे किसी कुएँके पास माँ-बहनोंके रसलीन लोक-गीतोंकी गुंजारमें वटका वृक्ष रोपा जा रहा हो।

केन्द्रीय मन्त्री, मुख्य मन्त्री, और राज्यपालके पदोंपर सफलतापूर्वक काम करनेवाले श्री हरेकृष्ण मेहताब – साहित्यिक भी, राजनीतिज्ञ भी; नेता भी, कार्यकर्त्ता भी। कहूँ आकाशचारी होकर भी धरतीके आदमी। तभी तो उन्होंने एक वाक्यमें वह सब कुछ कह दिया, जो आवश्यक था – "यह पुरस्कार राष्ट्रीय एकताका सदनुष्ठान है और मेरा विश्वास है कि यह योजना धीरे-धीरे आत्मविकास करेगी।"

संसारका कोई भी संविधान अपूर्ण है, अयोग्य है, यदि वह संवैधानिक परम्पराओंका सहारा न ले, पर क्या कभी और कहीं ये परम्पराएँ संविधानके साथ जनमी हैं? ना, ये धीरे-धीरे नयी परिस्थितियों और आवश्यकताओंमें जनमी हैं। इसीका अर्थ है "योजनाका आत्म-विकास।" इसे भूलनेके कारण ही अनेक आशंकाएं भाषणोंमें प्रकट हुई, अनेक सुझाव आये, पर इसका एक शुभ्र पक्ष भी है कि एक लाख रुपये पुरस्कारके महान् अनुष्ठानकी घोषणासे राष्ट्रके साहित्य-साधकोंका चिन्तन जागृत हो उठा है।

इसका अर्थ है कि घोषणाका उसके जन्म लेते ही राष्ट्रव्यापी प्रभाव पड़ा है। मेरा मन कल्पनाके चश्मेसे उस ऐतिहासिक समारोहको देखने लगा, जो १९६५ मे किसी साधकको प्रथम पुरस्कार प्रदानके लिए होगा। पुरस्कार प्राप्तकर्त्ताका साफ़ चेहरा तो मुझे दिखाई नहीं दिया, क्योंकि वह पुरस्कार-प्रदाता राष्ट्रपतिके सामने झुका हुआ था, पर इतना मैं साफ़ देख पाया कि वह साधक हिन्दी भाषी नहीं है। मुझे तो अपना यह कल्पना-दर्शन शुभ-शकुन-सा लगा।

चर्चा रही कि ज्ञानपीठ-पुरस्कार एक लाखका न होकर दस-दस हजारके दस रूपोंमे दस लेखकोंको प्रतिवर्ष दिया जाये। बढ़कर यह चर्चा पचीस-पचीस हजारके चार भागों तक पहुँची, पर संस्थापक विशाल भारतके इस पुरस्कारको खण्डित करनेके लिए तैयार न थे। मनमे प्रश्न उठा – इस विचारका मर्म क्या है? उत्तर मिला – दैन्य! लम्बी गुलामीने हमारे अन्तर्को दैन्यसे भर दिया है और हम अपनी पात्रताके प्रति अविश्वासी हो गये है, अरे, लेखकको एक लाख रुपये!!

चर्चाके बीचमें श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन गोष्ठीमें आये, तो उनसे मंचको कुरसीपर बैठनेको कहा गया, पर वे वहाँ नहीं बैठे और लेखकोंके बीच ही एक कुरसीपर बैठ गये। ज्ञानपीठ-पुरस्कारकी आत्मा है वे, तो प्राण-चेतना है रमा रानीजी। इस स्थितिमें उनका वहाँ बैठना सबको भाता, पर साहूजीमे असाधारणताके आकाशमे उतरकर, उतरे रहकर जीने-जागनेकी एक ऐसी सुकुमार वृत्ति है कि उससे उनकी सरल, सहयोगी मानवीयता सदा प्रदीप्त रहती है।

साधकोंकी इस गोष्ठीमे मक्खियाँ भी थीं। उन्हे इस घोषणामे 'पुरस्कार-दाताओंके दो फेवरेट लेखकोंको सम्मानित करनेके बाद योजनाके ठप्प होनेका षड्यन्त्र' दिखाई दिया, पूँजीवादके प्रचारकी गन्ध आयी, लेखकोंकी दासता दीखी, पर सोचता हूँ मक्खियोंकी भिनभिनाहटका रिकार्डिङ् ही हम क्यों करें?

पुरस्कारका संविधान नोबुलप्राइज़ और दूसरे विश्व-पुरस्कारोंके संविधानोंका अध्ययन कर बनाया जा रहा है और वह एक विशाल तन्त्रका रूप लेगा, पर मान्या रमा रानीजीने जो रूप-रेखा दी और चर्चाके बीच-बीचमें श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनने जो स्पष्टीकरण किये, उनसे स्पष्ट है कि पुरस्कारका संविधान शुद्ध प्रजातन्त्री और प्रतिनिध्यात्मक होगा और संस्थापकोंका हाथ उसमें स्पर्शमात्र ही रहेगा। संस्थापकोंकी यह वृत्ति भी मुझे स्पृहणीय लगी कि वे पुरस्कारपर अपना या अपने पूर्वजोंका नाम लगानेके लोभको संवरण कर सके और उसकी घोषणा भी उन्होंने अपनी ओरसे न कर एक सार्वजनिक संस्था भारतीय ज्ञानपीठकी ओरसे की। निश्चय ही इसके लिए भविष्य उनका अभिनन्दन करेगा।

मैंने कहा कि पुरस्कार-घोषणासे साहित्यकारोंमें गहरा चिन्तन जागृत हुआ, पर यह चिन्तन कितना चहुँमुखी है, इसका अनुभव मुझे तब हुआ जब श्री जैनेन्द्रकुमारने कहा, "ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि पुरस्कारका धन लेखक तक पहुँच सके। ऐसी व्यवस्था न हुई, तो सरकारका इनकम-टैक्स-विभाग आधा धन ले लेगा।" सुनकर सोचा, ब्राह्मणवेषी जैनेन्द्रका अन्तर्वासी वैश्य कितना जागरूक है!

यह आये माइकपर लक्ष्मीचन्द्र जैन कि धन्यवाद दे विसर्जन करें कि अपनी जगह खड़े होकर कविवर श्री सियारामशरण गुप्तने कहा, "अस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।" (इसमें दोनों हैं, लक्ष्मी भी, सरस्वती भी)। लक्ष्मीचन्द्रजीने उन्हें माइकपर आनेको कहा, तो बोले, "बस मुझे इतना ही कहना है।" मैंने सोचा, काकाजीने इस गोष्ठीका मांगलिक समारम्भ किया था और सियारामशरणजीने यह कर दिया मांगलिक समारोप, तो मंगलम्, मंगलम्, मंगलम्, इस ज्ञानपीठ-पुरस्कारकी सफलता निश्चित है।

और बस मेरा मन फिर गहरे उतर गया और उसमें एक प्रश्न उभरा, यह सब हुआ क्या?

यह सब वही हुआ, जो आरम्भमें कह चुका हूँ, सर्वनाशका ख़तरा

उत्पन्न होनेपर सबोंके द्वारा सुरक्षित, प्रिज़र्व की गयी हमारी संस्कृतिमें जीवित रहने और फैलनेकी फ़ौलादी इच्छा एवं शक्तिका साक्षात्कार। स्पष्टताके लिए इतना और, पहली गोष्ठी है संस्कृति-वल्लरीका बाह्य फैलाव कि हम दूसरोंसे लेते ही न रहें, उन्हें परसें भी। कहें, यह है हमारी पुष्पांजलि, प्राप्त दानकी कृतज्ञतामें प्रतिदान और दूसरी गोष्ठी है उसी संस्कृति-वल्लरीका अन्तःफैलाव कि जड़ें एक-दूसरीमें मिलकर यों पुष्ट हों कि पृथ्वीसे रस लेकर पुष्पोंकी सर्जनामें सहायक होती रहें।

वेदने कहा है, "शतहस्तं समाहर, सहस्रहस्तं संकिर।" अर्थ है, सौ हाथोंसे शक्तिका संचय कर, हज़ार हाथोंसे उसे बिखेर, तो दूसरी गोष्ठीका विषय है शक्तिका संचय और पहली गोष्ठीका विषय उसका वितरण। एक है नींव तो दूसरी है कलश; दोनों मिलकर संस्कृतिके भवनको परिपूर्णता देते हैं।

गोष्ठियोंकी पूर्णतापर मनमें आया – श्रीमती रमा रानी जैनके पारिवारिक व्यक्तित्वको दिगम्बर जैन महिला-परिषद्की नेतृत्वने सामाजिक बनाया, तो भारतीय ज्ञानपीठके संचालनने सांस्कृतिक रूप दिया, पर अनुवाद – योजना और पुरस्कार-घोषणाने निश्चय ही उन्हें स्मरणके योग्य एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व बना दिया है।

अपने भंगी भाइयोंके साथ

होली है हमारे राष्ट्रकी मस्तीका त्यौहार !

मस्ती पाबन्दियोंको नहीं मानती और पिछली शताब्दियोंमें हमारे राष्ट्रकी आत्मा घोर पाबन्दियोंसे घिरी रही है। ये पाबन्दियाँ है धर्मकी, समाजकी, आचार-विचारकी, विधि-निषेधकी, छोटे-बड़ेकी, स्पृश्य-अस्पृश्यकी।

होली इन सब कड़े और दमघोटू बन्धनोंको भूलकर स्वतन्त्रता ही नहीं, स्वच्छन्दता अनुभव करनेका त्यौहार है – भले ही केवल एक दिनके लिए।

केवल एक दिनके लिए ? हाँ, केवल एक दिनके लिए, पर इस एक दिनका बहुत महत्त्व है। कितना ? बहुत-बहुत, पर यह बहुत ऊपरी नहीं, सूक्ष्म है और ज़रा गहरेमें उतरकर इस सूक्ष्मको अपनेमें लेना होगा।

मेरे नगरमें एक छोटी-सी सड़क है, जो कचहरीकी सड़कको रेलवे कॉलोनीकी सड़कसे जोड़ती है। यह सड़क रेलवे विभागने अपने खर्चेसे बनवायी है, पर है यह म्युनिसिपल बोर्डकी सीमामें और नगरके सभी लोग इसका उपयोग करते रहते है।

रेलवे विभाग वर्षमें एक दिन इस सड़कको आम जनताके लिए बन्द कर देता है और इस तरह सड़कपर उसके अधिकारकी घोषणा हो जाती है।

यही बात होलीकी है। वह वर्षमें एक दिन हमारे समाजके बन्धनोंको व्यर्थ घोषित कर, सबकी समानताका सन्देश ही नहीं, एक सुन्दर प्रदर्शन हमें दे जाती है। लोक-भाषामें होली शूद्रोंका पर्व कहलाता है। उसका

अर्थ क्या है ? यही कि आज होलीके दिन शूद्र भी, समाजके दबे हुए अंग भी, अपनेको उभरा और दूसरों-जैसा ही स्वतन्त्र अनुभव करते हैं।

यह क्या बीती शताब्दियोंकी परिस्थितियोंमें कोई साधारण बात रही कि समाजके सब वर्गोंकी समानताका बीज इस पर्वने नष्ट नहीं होने दिया, उसे बचाये रखा।

अब हमारे स्वतन्त्र राष्ट्रके महान् विधानने अधिकारपूर्वक, वैधानिक रूपमें समाजके सब लोगोंकी समानता घोषित की है। यह वैधानिक समानता जीवनमें घुल-मिलकर सामाजिक समानताका रूप ले ले, तो हमारे पुण्यपर्व होलीका भी नया रूपान्तर, नया संस्करण प्रस्फुटित होगा, यह स्वाभाविक है।

होलीका दिन और मैं अपनी कुटियामें रोग-शय्यापर धूप, धूल और गुलाल, तीनोंसे अपनेको बचाये, पर त्यौहार तो मनहूसोंको भी फुरेरी देते हैं। मुझे भी फुरेरी आ रही है कि किसीके साथ होली खेलूँ।

तीसरा पहर आते-न-आते यह फुरेरी ज़रा बिफर चली, तो मैं उठा और पास ही अपने स्टेशनपर आया। थर्ड क्लासका मुसाफ़िरखाना, जिसमें स्वराज्यके सन्देशवाहक-से बिजलीके पंखे लगे हैं और साफ-सुथरी बेंचें बिछी हैं। वहीं पास ही थर्ड क्लासके मुसाफ़िरोंकी टट्टियाँ हैं। मुझे वहीं जाना था, मैं पहुँच गया। दो भंगी वहाँ बैठे थे। मुझे वे जानते है, खड़े हो गये, "पण्डतजी, राम राम।"

"राम राम चौधरी साहब !" मैंने कहा और साथ ही यह भी कि, "होलीकी बधाई भैया !"

दोनोंने समझा मैं शौचके लिए ही आया हूँ और उन्होंने एक साफ़-सा तामलोट आगे बढ़ाया।

मैंने कहा, "मैं तो तुमसे होली मिलने आया हूँ भैया !" और आगे बढ़कर मैं दोनोंसे गले मिला। दोनोंके लिए यह नया अनुभव है, यह मुझे

उनके भौंचक चेहरोंसे जान पड़ा।

ओह, बेचारोंको रात-दिनकी सेवाके बदले समाजने कभी इतनी ममता भी नहीं दी, यह मेरे मनमें आया, तो एक कील-सी कलेजेमें चुभ गयी। तभी मैंने सोचा, हम दुनिया-भरके ज्ञान-विज्ञान छौंकते रहते हैं, पर अपने चारों ओर नहीं देख पाते।

दो ग्लास चाय बाहरसे लाकर मैंने उन्हें दी और वहीं बैठकर उनसे बातें करने लगा। वे धीरे-धीरे चाय पी रहे थे।

मैंने देखा, इन्हीं कुछ दिनोंमें आधी टट्टियाँ फ्लशकी बन गयी हैं, जो शीघ्र ही काममें आने लगेंगी और तब ये आधी भी फ्लशकी बन जायेंगी।

फ्लश-सिस्टमको मैं अपने देशके लिए वरदान मानता हूँ, क्योंकि हरिजनोंके नव-जीवन-निर्माणका यह पचास प्रतिशत समाधान है। जो हम ज्ञानसे न कर पाये, वह विज्ञान करेगा।

यह देखनेको कि फ्लशका इन लोगोंकी दृष्टिमें क्या रूप है, उनसे पूछा, "फ्लश हो जानेसे तो बहुत आराम हो जायेगा भैया?"

"हाँ, पण्डतजी, फिर यह नरक नहीं रहेगा।" बड़ेने कहा। इस उत्तरमें आजकी परिस्थितिसे ऊब खुले पत्तेकी तरह स्पष्ट थी। तभी छोटेने कहा, "अजी, एक टट्टीके बननेसे क्या हो, यह तो सारी दुनियामें नरक हो रहा है।"

इस उत्तरमें उस ऊबकी तेज़ी मुझे मिली। इस तेज़ीको पचाते हुए मैंने कहा, "दस बरसमें सारे देशकी टट्टियाँ फ्लशकी हो जायेंगी।"

मैं अपने उत्तरकी प्रतिक्रिया उनके चेहरोंपर पढ़ रहा था! वहाँ कोई चमक मुझे दिखाई नहीं दी। मैंने सोचा, लम्बे वादे, बड़ेसे बड़े और पक्केसे पक्के क्यों न हों, पिसी हुई जनताको आश्वासन नहीं दे सकते।

इस सत्यको अपनेमें लेना, मेरे लिए तेज़ाब पीना था, क्योंकि इसका अर्थ है – हम वादोंके द्वारा आम जनताकी आँखोंमें उसके यानी विशाल राष्ट्रके उज्ज्वल भविष्यका स्वप्न नहीं उतार सकते।

इस अर्थका फलितार्थ यह हुआ कि जन-साधारणके जिस अहर्निश स्वेच्छाश्रमके द्वारा राष्ट्रोंका नव-निर्माण सम्भव है और उसकी नींव जिस मानसिक उमंगपर रखी जा सकती है, वह जनतामें बादोंसे उत्पन्न नहीं हो सकती, उसे कुछ प्रत्यक्ष चाहिए, भले ही यह 'कुछ' कमसे कम हो।

जो कुछ अभीतक हाथ आया, वह यह था : हमारे राष्ट्रकी आम जनता आज जिस दिशामें है, उसमें वह अपने शासकों और साधकोंसे तुरन्त कुछ चाहती है और महान् राष्ट्रके निर्माणमें उससे हम जिस प्रतीक्षा और परिश्रमकी आशा करते हैं, वह इस चाहकी पूर्तिपर ही निर्भर है।

मैं सोच रहा था, वे चाय पी रहे थे। मुझे अपने बापूकी याद आ गयी। हमारे इतिहासमें इस देशकी आत्माको ठीक-ठीक पहचाननेवाला कोई दूसरा महापुरुष पैदा नहीं हुआ, जो राष्ट्रके नव-निर्माणकी शृंखलामें इतनी गहराइयों तक उतरा हो।

इस देशमें सामाजिक क्रान्तिके नारे लगानेवाले गली-गली हैं, पर अस्पृश्यता-निवारणको सामाजिक क्रान्तिका प्रतीक मानकर बापूने जितनी दूर तक देखा, वह तो दूसरोंके लिए कल्पनातीत ही है।

आर्थिक सामाजिक क्रान्तिका अर्थ है बाहरी समानता और अस्पृश्यता-निवारणका अर्थ है भीतरी यानी मानसिक समानता। पहली क़ानूनकी शक्तिसे, हिंसाके बलसे सम्भव है, दूसरी मनके संस्कारोंके परिवर्तनसे; इसे यों भी कह सकते हैं कि पहली है सामाजिक क्रान्ति और दूसरी है मानसिक क्रान्ति – पहलीका चरम विकास दूसरीमें है, पत्ते और टहनियों-का नहीं, मूलका ही यह परिवर्तन है।

तभी आ गया उनमें-से एकका पुत्र। होगा कोई सात-आठ सालका। मैंने उसे भी चायके लिए एक दुअन्नी दी और तब उन दोनोंसे कहा, "भैया, तुम अपनी ज़िन्दगीमें जिस अपमान, ग़रीबी और नरकको भोगते रहे हो, इस बच्चेको वह सब नहीं भोगना पड़ेगा, क्यों कि जबतक यह जवान होगा, तबतक

दुनिया ही बदल जायेगी और समाजमें सबका दर्जा बराबर हो जायेगा।

मैं बहुत गहराईसे दोनोंके चेहरे देख रहा था कि उसपर क्या-क्या झमक आती है। मुझे लगा कि खुशीकी एक लहर आकर उतर गयी।

तभी छोटेने कहा, "अजी, कहाँ बदले है दुनिया! हमारी क़िस्मतमे नरक ढोना लिखा है, तभी तो भंगीके घर पैदा हुए हैं। हमने ढोया, हमारे बच्चे भी ढोयेंगे, दुनिया कहीं नहीं बदलती।"

क़िस्मत हमारी राष्ट्रका वह मानसिक चक्रव्यूह है, जिसमें फँस-उलझकर परिवर्तनकी क्रान्तिकी भावना घुट-मरती है। यह ऐसा डी० डी० टी० है जो असन्तोषके कीटाणुओंको जन्म ही नहीं लेने देता।

मैं अब निराशासे झकझोर हो ही रहा था कि बड़ेने ठेठ सहारनपुरी उच्चारणमें कहा, "अरे मूरख, बदलगी क्या, दुनिया तो बदलगी। ऐसे बिद्वान पण्डत तुम्हारेसे होली मिलण आये होर (और) म्हारे पास बैठके बात्ताँ पूछ रे, या ममूली बात हैं क्या कुछ?·जहाँ इतना हुआ व्हाँ इन-जैसोंके पुन-परताबसे होर भी हो जागा। कधी-न·कधी तो सबके दिन बहावड़ें, म्हारे क्या हमेसा सोवो ही जाँगे।"

बात पूरी हो गयी थी, मैं उस बालकको पुचकारकर उठ खड़ा हुआ। चलते-चलते बड़ेने कहा, "राम-राम पण्डत जी, कधी-कधाक तम आ जाओ तो हमें सुरग-सा दिख जा।"

राम राम कर मैं चला, तो बालक अपनी दुअन्नीमें उलझा हुआ था। उसके लिए नये समाजकी रचनासे यह दुअन्नी अधिक क़ीमती थी। वही बात कि कलकी कल्पनासे अबोधके लिए आजका यथार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है।

चलते-चलते, सब मिलाकर मैंने सोचा, शासक-शक्ति देशके उज्ज्वल भविष्य-निर्माणमे लगी रहे और साधक-शक्तिका सेवा-सम्पर्क जनताको मिले, तो राष्ट्रके नव-निर्माणका कार्यक्रम सही रूपमें चल सकता है। मैं अपनी कुटियामें लौटकर आया तो थक गया था, पर रोम-रोममें होलीकी मस्ती थी – आजकी होली खूब रही।

महान् सांस्कृतिक महोत्सवमें

स्वागतके समय

वह एक महान् सांस्कृतिक महोत्सव था, जो भगवान् महावीरके धर्म-प्रवर्तनकी ढाई हज़ारवीं वर्षगाँठके रूपमें; प्रसिद्ध नगरी कलकत्तामें मनाया गया।

क्या यह महापुरुष महावीरकी वन्दनाका महोत्सव था? नहीं, यह भगवान् महावीरके 'शासन'का संस्मरणोत्सव था। यह व्यक्तिकी पूजा न थी, व्यक्तिके लोक-कल्याणकारी सन्देशका अभिनन्दन था और तभी मैं कहता हूँ, यह एक महान् सांस्कृतिक महोत्सव था।

एक बात और; यह उत्सव 'धार्मिकता'के धरातलसे ऊँचे, सांस्कृतिकताके आसनपर प्रतिष्ठित था। अभीतक हम विश्वकी विभूतियोंपर अपने समाजका 'हाल मार्क' लगाकर उन्हें संकीर्णताके नदमें डुबानेका प्रयत्न करते आये हैं। यहाँ इस पापका प्रक्षालन था।

उत्सवकी स्वागत समितिमें अंगरेज़, हिन्दू और जैन दिगम्बर-श्वेताम्बर, वर्गोंके लोग थे। इन लोगोंके चुनावमें भी सरस्वतीके चरणोंमें महालक्ष्मी ही प्रणत मुद्रामें थी।

स्वागतका कार्य श्री साहू शान्तिप्रसाद, सेठ बलदेवदास सरावगी और बाबू छोटेलालजीके हाथोंमें था और प्रधान सभापति सर सेठ हुकुमचन्दजी थे, तो उद्घाटन श्री श्यामाप्रसाद मुकर्जीने किया था। परिषदोंके अध्यक्षोंमें सर्वश्री सातकौड़ी मुकर्जी, प्रो० हीरालाल जैन, प्रो० हरिमोहन भट्टाचार्य, टी० एन० रामचन्द्रन और डॉ० कालीदास नाग-जैसे अधिकारी विद्वान् थे,

तो संयोजकोंमें सर्वश्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, अशोककुमार भट्टाचार्य, अजित रंजन भट्टाचार्य, शिवेन्द्रनाथ घोषाल और सतीशचन्द्र शीलकी योजना थी। सर्वश्री सुनीतिकुमार चटर्जी, बी० एम० बड़ुवा, प्रिन्सिपल के० पी० मित्रा-जैसे लोगोंकी उपस्थिति और सहयोगने इस उत्सवको गम्भीरता दी थी और श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार इस विशाल अनुष्ठानके आचार्य पदपर अधिष्ठित थे।

जैन झण्डागीत और महावीर-सन्देशके गायकोंमें जहाँ सुशीला जैन थीं, वहाँ सर्वश्री इकबाल जहाँ, कुमारी रहीम, बीना बडेर और मीरा सील भी थीं। बहुत-से संकीर्ण उत्सवोंमें कुढ़नेके बाद मुझे तो इस उत्सवका वातावरण ऐसा लगा कि कारखानेसे निकलकर हम कहीं गंगातटपर आ बैठे हों।

प्रतिनिधियोंकी गोष्ठियोंमें

"खुले अधिवेशनमें खुले दिल बातें करना सम्भव नहीं होता, अतएव यहाँ हम एक सिंहावलोकन कर लें कि हमारे समाजमें कहाँ क्या हो रहा है और यहाँ हम विचार कर लें कि कहाँ क्या होना चाहिए, जिससे कि हमें नयी स्फूर्ति मिले और हम इस उत्सवके कार्यक्रमका उपयोग भी इस दिशामें कर सकें" इन शब्दोंमें श्री साहू शान्तिप्रसादने प्रतिनिधियोंकी गोष्ठीका आरम्भ किया। कई सज्जन बोले, पर भाषणके जोशने उन्हें कहींसे कहीं पहुँचा दिया। गोष्ठियोंके सम्बन्धमें मेरा अनुभव है कि उनमें चुने हुए आदमियोंको ही बुलाया जाये और भाषण-ब्रह्मचर्यका पूरा ध्यान रखा जाये।

सर्वश्री राजेन्द्रकुमार जैन, बा० लालचन्द एडवोकेट और बैरिस्टर जमनाप्रसादने कामकी बातें कहीं। लालचन्दजी जीते-जागते प्लेट-फ़ार्म हैं और जमनाप्रसादजी—बाँधके निर्झर; दोनोंको देखकर हमेशा मेरे मनमें यही भाव आया है कि ये दोनों जैन समाजकी भुजाएँ हैं, पर एक अपनी बका-

लतमें व्यस्त है और दूसरा जजीमें। भगवान्‌की जैन समाजपर बड़ी कृपा हो यदि कोई ऐसा केस हो जाये कि एकका डिप्लोमा ज़ब्त हो जाये और दूसरा अपनी नौकरीसे अलग कर दिया जाये। सम्भव है दोनों बन्धु मुझ-पर नाराज हों, पर मैं तो इसे उनके प्रति शुभकामना ही मानता हूँ।

सर सेठ हुकुमचन्दजीके पधारनेपर जब श्री जैनेन्द्रकुमारजीने उनके सामनेकी चौकीपर बैठे-बैठे अपना भाषण आरम्भ किया, "मैं सोच रहा था कि हम बैठे है, पर हममे 'सर' नहीं है। अब हममें 'सर' है, जिसके बिना काम नहीं होता।" तो सर साहबने बड़े लाडसे उनकी कमरपर हाथ फेरा, पर बहुत-सी आँखोंने एक विशिष्ट भावसे एक-दूसरेकी तरफ देखा भी।

लम्बा क़द, छरहरा बदन, गौर वर्ण, शान्त मुख-मुद्रा और दीप्त खल्वाट; गोष्ठीमे एक सज्जन पधारे और लोगोंके आग्रह करनेपर भी बादमे आनेके कारण, पीछे ही बैठे रहे, तो मुझपर उनकी सज्जनताकी छाप पडी पर विज्ञान-परिषद्‌मे जब यही सज्जन 'काल' पर बोले, तो मेरी जिज्ञासा-पर उनके अध्ययनकी गम्भीरता छा गयी। ये भारत सरकारके रिटायर्ड एकाउण्टेण्ट जनरल (नोटोंपर दस्तखत करनेवाले पहले भारतीय) श्री जगतप्रसाद जैन सी० आई० ई० महोदय है। उन्हे देखकर मुझपर तो यही प्रभाव पड़ा कि उनका व्यक्तित्व जैन-समाजकी एक शक्ति है और उसका पूरा उपयोग लिया जाना चाहिए।

गोष्ठीमे पण्डित मक्खनलालजीने ही पण्डितोंका प्रतिनिधित्व किया, पर उनके शास्त्रीय भाषणकी ध्वनि थी कि इस वर्गका समाजकी जीवित प्रवृत्तियोंके साथ कोई सम्पर्क नहीं है।

खुले अधिवेशनमें

इसी दिन रातमे श्री बेलगछियाके विशाल मन्दिरमें, वीर शासन जयन्तीका खुला अधिवेशन हुआ। डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जीने अपने अँगरेज़ी

उद्घाटन-भाषणमें भारतीय संस्कृतिके निर्माणमें जैन-संस्कृतिके दानपर सुन्दर प्रकाश डाला। श्री साहू शान्तिप्रसादजीका स्वागत-भाषण, भाषा और भाव दोनों दृष्टियोंसे संयत था, दृष्टिकोणमे व्यापकता थी और जैन समाजके उदाहरणसे पाकिस्तानपर उसमें जो चोट की गयी थी, वह ऊपरसे सूक्ष्म होकर भी बेधक थी। रावराजा सर सेठ हुकुमचन्दजीने सभापतिका आसन ग्रहण किया। श्रीमती रमा रानीजीने जब सभापतिके मस्तकपर तिलक कर उन्हें नारियल भेंट किया, तो राजपूती इतिहास आँखोंमें सजीव हो उठा। नारीके इस छोटेसे लाल तिलकने जाने कितने वीरोंको कर्त्तव्यकी प्रेरणा दी है और कितनोंको गिरते-गिरते सँभाला है।

महाराष्ट्रीय ढंगकी किश्तीनुमा शाही लाल पगड़ी, गलेमें क़ीमती पन्नोंका दोहरा कण्ठा, चमचमाती वायलका अँगरखा, विशाल आकार और गम्भीर हास्यपूर्ण मुखमुद्रा; सचमुच सर साहब जैन समाजकी दर्शनीय विभूति हैं। पुरानी भाषा-शैलीमें हम आसानीसे उन्हें 'नरसिंह' कह सकते हैं।

स्वागताध्यक्ष श्री साहूजीने उन्हें कुरसीपर बैठाया, भाषण खोलकर उनके हाथमे दिया, लाउड स्पीकर ठीक किया और खचाखच विशाल पण्डालमें सर साहबकी गम्भीर वाणी गूँज उठी। भाषण विस्तृत था और सर साहब उसे शास्त्र-वाचनकी 'टोन' में पढ़ रहे थे। उम्र अस्सी वर्ष और चश्माविहीन आँखें! साहूजीने कानमें कहा, "लाइए मैं पढ़ दूँ आपका भाषण" तो मुसकराहटमें लिपटी दृढ़तामें उत्तर मिला, "नहीं!" इस नहींमें सर साहबकी विशाल सफलताके आधार और उनके आत्मविश्वासकी सुन्दर झाँकी थी। थोड़ी देरमें वे और भी धीरे-धीरे पढने लगे, तो साहूजीने फिर कहा कि भाषण किसी औरसे पढ़ा दें, पर इस बार और भी सख्त उत्तर मिला, "नहीं-नहीं" तीसरी बार उत्तर मिला, "नहीं भाई!" पर लोग ऊब उठे थे, इसलिए सारी स्थिति आपको समझायी गयी और आप मान गये। घोषणा हुई कि आप थक गये हैं, इस

लिए भाषण श्री राजकुमार सिंह पढ़ेंगे। सर साहबने तुरन्त प्रतिवाद किया, "मैं थका नहीं हूँ, पर ये कहते हैं कि लोग चले जायेंगे।" इस प्रतिवादकी ध्वनि थी कि यह आदमी कभी हार नहीं मान सकता और इस ध्वनिमें ही जैसे उनके सारे जीवन-क्रमका इतिहास आ गया था।

सर साहबके सुपुत्र रायबहादुर श्री राजकुमारसिंह – वही लाल पगड़ी, पर सर साहबसे छोटी, वैसा ही कण्ठा, पर इकहरा, स्वस्थ गठित शरीर, लम्बा क़द और प्रभावशाली मुख-मुद्रा – एक सपाटेमें उन्होंने भाषण पढ़ा। बादमें भी उनसे बातें करनेका अवसर मिला। वे प्रभावशाली भी हैं और प्रतिभाशाली भी – उनके व्यक्तित्वकी दीप्ति उनकी सरलतामें है और सरसतामें भी! हमारा सामाजिक जीवन उनसे कुछ आशाएँ बाँधे तो अनुचित नहीं है।

एक काग़ज हाथमें लिये यह सज्जन लाउडस्पीकरपर आये। लम्बा क़द, भरा शरीर, हँसते होंठ, खिले लोचन, गलेमें दोनों ओर नीचे तक लटकता साफा, ऊँची दुपल्ली सिरपर और ढलकते शरीरको थामे, लपकती-सी चाल, आराके विख्यात रईस श्री निर्मलकुमार; जीवनके ऐसे अभिनेता, जो रंगभूमिमें आते ही, आँखों-आँखोंमें दर्शकोंको मोह लेते हैं। कई बार आपको देखा और कई बार बातें कीं। निर्मलकुमारजीमें नेतृत्वकी अद्‌भुत प्रतिभा है। वे गुत्थियोंको सुलझाना भी जानते हैं और दो विभिन्न तटोंपर खड़े आदमियोंको एक स्थानमें उलझाना भी! हमारा दुर्भाग्य है कि वे सार्वजनिक जीवनसे दूर हैं।

कलकत्तामें, एक विशाल जैन एकेडेमीकी स्थापनाका प्रस्ताव आपने किया। उसे समर्थन भी मिला और कई लाखके वचन भी। मेरे मनमें इस सम्बन्धमें एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कलकत्ता उत्सवकी योजना वीर सेवा-मन्दिर, सरसावाने की थी और वहाँ जो नयी एकेडेमी बनी, वह एक स्वतन्त्र संस्था प्रतीत हुई, तो दोनों संस्थाओंमें कोई समन्वय स्थापित किया जायेगा या वीर सेवा-मन्दिरको केवल धन्यवाद ही मिलेगा। कुछ भी हो,

आवश्यकता इस बातकी है कि पं० जुगलकिशोर मुख्तारको अब बुढ़ापेमें पूर्ण निश्चिन्तता मिले, जिससे अपने जीवनकी खोजोंको वे काग़ज़की सुरक्षित गोदमें बैठा सकें।

डॉ० कालीदास नाग बृहत्तर भारतीय इतिहासके महापण्डित हैं। उनका अँगरेज़ी भाषण अधिकारपूर्ण भी था और प्रभावपूर्ण भी। काश, वे हिन्दीमें बोल पाते। आजके उत्सवकी उपस्थिति श्रेणी और संख्या, दोनों दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण थी और वातावरण प्रभावनापूर्ण।

जैनधर्म-परिषद्में

दूसरे दिन प्रातः जैनधर्म-परिषद् हुई। मंगलाचरणको एक पण्डितजीने भाषणमें बदल दिया। बलप्रयोग करनेपर वे बैठे भी तो यह कहते हुए कि, "हाँ मुझे अपनी बात कहनेका समय अवश्य मिले।" अब क्या बताऊँ कि उस समय मनमें क्या भाव उठे।

लखनऊके श्री अजितप्रसाद जैन सभापति थे। वे मेज़पर आये और अपनेको सँभाल-सँभालकर उन्होंने सभासे पूछा कि यह परिषद् कितनी देर चले? तै हुआ कि दो घण्टे। अब वे घण्टेकी मिनिटें जोड़ने लगे कि किसे कितना समय मिले? कहा गया कि सभापतिको इस सम्बन्धमें पूरा अधिकार है, तो बड़ी आदर्शवादितासे बोले, "मैं आपके दिये अधिकारोंका दुरुपयोग नहीं करना चाहता।" इसपर डॉ० हीरालालने ओरियण्टल कान्फ़रेन्समें पेपर पढ़नेके जो नियम होते हैं समझाये, पर आप सभासे ही पूछते रहे। जैनेन्द्रजीने कहा, "मैं तो एक मिनिट लेना भी समयका दुरुपयोग समझता हूँ।" पर आपके लिए यह व्यंग्य भी शक्तिहीन रहा। बड़ी मुश्किलसे तै हुआ कि आप जो चाहें करें। इसपर आपने एक नया प्रश्न खड़ा किया कि "मैं कितने मिनिट लूँ?" चारों तरफसे आवाज आयी, "पन्द्रह मिनिट"। तब आप बोले, "नहीं, सिर्फ़ एक आदमी कहे।" जमनाप्रसादजीने खड़े होकर कहा, "पन्द्रह मिनिट!" तब आप मेज़पर-से

अपनी गद्दीपर आये। मैंने घड़ीकी ओर देखा – इस व्यवस्थामें बड़ी सुई चौबीस मिनिटोंको पार कर गयी थी। यानी पूरे समयका लगभग चौथाई अंश!

पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्रीने अपना निबन्ध पढ़ना प्रारम्भ किया। यह 'सचैल मुक्ति' के विरोधमें शास्त्रीय अध्ययन था, पर श्वेताम्बरोंके विश्वाससे यह विरुद्ध था। इसपर साहू शान्तिप्रसादजीने एक बहुत दूरका निशाना लिया : "यह लेख बहुत गम्भीर है। यह जब विवरणमें छपेगा, तो आप पढ़िएगा।" पर इतनी दूर कौन देखता? एक श्वेताम्बर तरुणने उठकर उसका विरोध किया, तो दिगम्बरोंमें उसके पढ़नेका आग्रह और भी बढ़ गया, पर साहूजीकी हार्दिक क्षमाप्रार्थनाने यहीं कटुताकी जड़ काट दी। मैं अपने मनमें सोच रहा था कि पाँवोंसे सिर तक वस्त्रोंसे लदे दो मानव सचैल और अचैल मुक्तिके प्रश्नपर चिन्तित है, यह जीवनका कितना अद्भुत चित्र है।

पण्डिता चन्दाबाईजीका भाषण उनके आस्तिक हृदयकी अभिव्यक्ति थी। जब सभापतिजीने उन्हें समयकी कमी बतायी तो बोली, "हाँ, धर्मके लिए तो समय कम रहता ही है।" बड़ा चुभता हुआ व्यंग्य था। इसे हम आसानीसे गान्धीजीके पैने व्यंग्योंके साथ रख सकते हैं।

खादीकी वेष-भूषा, आकृतिमें सरल-साधुकी छाया और मस्तिष्क की उभरी रेखाओंमें चिन्तनका भार लिये जैनेन्द्रजी मेजपर आये, "मैंने बचपनमें बहुत धर्म सीखा था। मुझे खुशी है कि वह मैं भूल गया और अब उस सम्बन्धमें जिज्ञासु हूँ।" बड़ा प्यारा झिलमिल आरम्भ था और अन्त था – "धर्मको जाननेका दावा ऐसा ही है, जैसे हवाको मुट्ठीमें बाँधना।" वे अपनी भाषा और शैली दोनोंमें अस्पष्ट है, पर यह अज्ञेयता ही बहुत दूर तक जनताके लिए उनके भाषणोंकी शक्ति है।

सभापतिजीका भाषण जैन धर्मका एक अक्षर भी न जाननेवालोंके लिए प्राइमरी किताब थी और वहाँ सब जानकार ही बैठे थे, फलतः लोग

आपसमें बातें करने लगे। श्रीलक्ष्मीचन्द्र जैनने खड़े होकर कहा, "भाइयो, आप आपस में भी बातें करें, तो सभापति जी से पूछ कर करें।" लक्ष्मीचन्द्रजीका यह बहुत ज़ोरदार 'पार्लमेण्टरी हिट' था, पर सभापतिजी ऋषभब्रह्मचर्याश्रमका इतिहास सुनाते रहे। मैंने लक्ष्मीचन्द्रजीके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की—"आप निश्चिन्त रहिए, सभापतिजीका इधर ध्यान नहीं है।"

भाषण पढ़नेका ढंग वाचनात्मक था और बीच-बीचमें आये उर्दू शेरोंको आप मुशायरेके रंगमें पढ़ते थे। भाषणका अन्त जब आपने एक संगीतमय शेरपर किया, तो तालियोंसे हाल गूँज उठा और मेरी तबीयत ख़ुश हो गयी जब आपने इन तालियोंको "वन्स मोर" मानकर उस शेरको फिर उसी टोनमें दोहरा दिया। और मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैनने जब 'योग्यता-पूर्वक' सभा-संचालनके लिए उन्हें धन्यवाद दिया, तो वे हाथ जोड़कर ऐसी मुद्रामें मुसकराये कि उसे भूलना किसी पत्रकारके लिए सम्भव ही नहीं है।

दर्शन-परिषद्में

लम्बे, पतले-दुबले, आकृति और वेश-भूषा दोनोंमें सामान्य, जन्मपत्री-सा लिपटा भाषण हाथमें लिये आये, श्री सातकौड़ी मुकर्जी, आजकी दर्शन-परिषद्के सभापति। भाषण संक्षिप्त था, पर सुलझा हुआ, अध्ययनपूर्ण और सरस। विश्वके दर्शनोंकी शृंखलामें जैन-दर्शनका स्थान और दान, दोनोंका उसमें निरूपण था।

मोटा-ताज़ा शरीर, मुसकराते होंठ, घूरती आँखें, कोट और दुपट्टेका समन्वय किये, काशीके श्री महेन्द्रकुमारजी बोले और तब आये प्रो० हीरालाल। पतले, पर दुबले नहीं, गौरवर्ण, आँखोंमें खोजकी तेज़ प्यास, ललाटपर चिन्तनकी रेखाएँ, वस्त्रोंमें अस्तव्यस्त-से—कमसे कम लापरवाह और होंठोंपर बिखरा हृदयका हास। जाने क्यों वे अँगरेज़ीमें बोले,

पर बोले कि एक बौछार आयी—"हिन्दी-हिन्दी" और वे हिन्दीमें बोले। भाषण, भाषणकलाकी लच्छेदारीसे दूर, पर कामकी बातोंसे भरा-पूरा। प्रो० हीरालाल, अध्येता भी हैं और समीक्षक भी। वे निष्कर्षोंकी नींवपर अध्ययन नहीं करते, अध्ययनके आधारपर निष्कर्षोंकी स्थापना करते हैं। समीक्षामें वे विश्वासोंके चिकित्सक न होकर तथ्योंके निघण्टुकार हैं। उनकी खोजमें भारतीय श्रद्धा है और पश्चिमकी विवेचना भी।

बस, यहीं दर्शन-परिषद् समाप्त; दर्शनोंकी तरह गम्भीर और दार्शनिकोंकी तरह शान्त।

डॉ० नाग बोले

दर्शन-परिषद् समाप्त हुई। डॉ० कालीदास नाग आये। मैजिक लालटेनसे उन्हें जैन स्थापत्यपर भाषण देना है। डॉ० नाग शरीर, स्वभाव और स्वाध्याय, तीनोंमें पूर्ण विकसित है। मुझे उनकी यह बात बहुत पसन्द आयी कि उनकी विद्वत्ता हो गम्भीर है, मुख नहीं – वे बराबर हँसते रहते हैं। इस हँसीका आधार, उनकी अपने विषयके साथ तल्लीनता है। वे जब अजन्ताका जिक्र करते है, तो स्वयं भी अजन्तामें होते है – फलस्वरूप अजन्ताके दर्शन-सुखसे उत्फुल्ल। वृद्ध होकर भी उनके रोम-रोममें स्फुरणाको लहरें है और नयी खोजकी प्यास।

आज वे बंगलामे बोले और श्री लक्ष्मीचन्द्रजीने उसका अनुवाद किया। वक्ता और अनुवादक, दोनोंकी अच्छी जोड़ी थी। डॉ० नागका भाषण, हमारी महान् मातृभूमिकी एक झाँकी थी और हमारी कायरताको एक चैलेंज भी कि इतनी महान् सम्पत्ति विदेशोंमे जा रही है।

आयुर्वेद-सम्मेलन

वैद्यराज श्री कन्हैयालाल जैन कानपुरके सभापतित्वमें आयुर्वेद-सम्मेलन हुआ। डॉ० नागके भाषणके बाद यह उबा देनेवाली योजना थी। फिर इसमें कोई मौलिकता न थी; क्योंकि 'जैन आयुर्वेद' कोई मौलिक सिद्धान्त

नहीं है। सभापतिका रोगी और स्वस्थ, दोनोंके लिए नींद लानेवाला भाषण ही इस सम्मेलनका आदि और अन्त था !

विज्ञान-परिषद्में

तीसरे दिन प्रातः विज्ञान-परिषद् हुई। सभापति थे कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्रो० श्री हरिमोहन भट्टाचार्य। वेष-विन्यास, वार्तालाप और व्यवस्था, सभीमें भव्य। हिन्दीमे आपने प्रोग्राम आरम्भ किया कि सब वक्ता पन्द्रह-पन्द्रह मिनिटमें अपना वक्तव्य समाप्त कर दें।

'भारतीय ज्योतिषमें जैन विद्वानोंका दान' पर जैन सिद्धान्त भवन आराके पुस्तकालयाध्यक्ष श्री नेमिचन्द बोले, "लिखित निबन्ध हाथमे लिये, पर मौखिक। उनके श्रमशोधका यह परिचय था।"

वीर-शासनकी तिथिपर श्री पी० सी० सेनगुप्ताका निबन्ध खोजपूर्ण था। कालपर श्री जगतप्रसादजी बहुत ऊँचो सतहपर बोले। श्री पी० पी० चटर्जी एडवोकेटने कहा, "हम इस तरह अपने विषयोंको वैज्ञानिक रूपमें लायें, तो संसार चमत्कृत हो जायेगा।" प्रो० हीरालालने जैन ग्रन्थ "भैरव पद्मावती' के आधारपर श्री मोहनलाल भगवानदास जवेरी लिखित—'कम्पैरेटिव स्टडी ऑफ़ मन्त्र शास्त्र' नामक अँगरेजी ग्रन्थका परिचय दिया। इस परिचयकी संक्षिप्त-सम्पूर्णतापर प्रिन्सिपल के० पी० मित्राने प्रसन्नता प्रकट की।

यहीं श्री गुलाबचन्द हीराचन्दने एक प्रस्ताव किया कि 'अखण्ड वीर-शासन संघ' की स्थापना कर, उसके लिए पाँच लाख रुपया संग्रह किया जाये और श्री जैनेन्द्रकुमार उसके मैनेजिङ् ट्रस्टी हों। यह प्रस्ताव जैनेन्द्रजीका ही था और केवल प्रभावक करनेके लिए ही प्रस्तावकको दे दिया गया था। विज्ञान-परिषद्से इसका कोई सम्बन्ध न था—असलमे यह विज्ञानपर राजनीतिका आक्रमण ही था !

जैनेन्द्रजीने इसका समर्थन किया, "आज तक जीवनमे मैंने पहले ही

कम मूर्खताएँ नहीं कीं, पर इस प्रस्तावको लाकर तो और भी बड़ी मूर्खता कर रहा हूँ। मैं इसका ट्रस्टी इसलिए बना कि और कुछ उपाय ही नहीं है।" यह बतानेके बाद कि मैं अकिंचन हूँ और शान्तिजीके किरायेसे यहाँ तक आया हूँ, बड़े दर्द-भरे स्वरमें उन्होंने कहा, "मेरी इच्छा थी कि मैं विपुलाचलपर जाऊँ, पर क्या पैदल जाऊँ? मेरे पास किराया नहीं है।" आपके भाषणका अन्त था – "मुझे भगवान्‌की ओरसे मालूम हुआ है और धर्मकी ओरसे मालूम हुआ है कि मेरी यह मूर्खता बुरी नहीं है।" भाषणमें चारों ओर कुहरे-सी छायी वक्ताकी 'मैं' बहुत ऊँची सतहसे बोली। काश, यह भाषण तीन हज़ार वर्ष पहले हुआ होता, तो निश्चय ही दुनिया उन्हें एक 'इलहामी सन्त' बना डालती!

'दिगम्बर जैन संघ' के मन्त्री पण्डित राजेन्द्रकुमारजीने इस आयोजनकी बहुत प्रशंसा करनेके बाद सुझाव रखा कि इस महत्त्वपूर्ण प्रस्तावपर खुले अधिवेशनमें विचार हो, जिससे सब संस्थाओंके प्रतिनिधि, इसमें भाग ले सकें। यह एक 'बाउण्डरी हिट' था। तभी सभापतिका भी रूलिङ् आ पड़ा – "ऐसे प्रस्ताव खुले अधिवेशनमें लाइए। यहाँ विज्ञानकी बात कीजिए।" प्रस्ताव स्थगित हो गया और ऐसा स्थगित कि फिर खुले अधिवेशनमें भी न उठा।

गठित शरीर और अपने ही प्रयत्नों-द्वारा गठित व्यक्तित्व, पण्डित राजेन्द्रकुमार सामाजिक जीवनके हर मोर्चेके लिए फिट भी और प्रस्तुत भी। अपने चिरसंगी नजलेके कारण बार-बार खखारते हुए 'बन्ध'पर वे बोले। सरल, संक्षिप्त, सरस और सारपूर्ण – विद्वानोंके लिए भी और जनताके लिए भी।

सभापतिका भाषण जैन साहित्यके विज्ञान विभागकी महत्त्वपूर्ण 'समरी' थी। लिखित भाषण होनेपर भी वे मौखिक बोले और खूब बोले। सामनेकी ओर खुली आँखें और तल्लीन मुद्रा, जैसे सारा जैन साहित्य

उनके सामने बिखरा हो और अपने अध्ययनके अम्बारमें-से वे अभी चुन-चुनकर ये विचार ला रहे हों !

जैनकला-परिषद्में

गलेमें साफा, सिरपर मद्रासी पगड़ी, लम्बे, छरहरे, मद्रासके श्रीराग-चन्द्रनका सभापतित्व ही इस परिषद्की विशेषता थी। उनके एक सौ चार पृष्ठके भाषणका सार ही हमने सुना। यह भाषण जैनकलापर एक अधिकारपूर्ण 'डाकूमेण्ट' है और इसे पूरा पढ़कर कोई भी भारतीय अपने अतीतपर गर्वित हुए बिना न रहेगा। ओह, जैन समाज कितनी महान् सम्पदाका अधीश्वर है !

सर्वश्री सुपार्श्वन, के० पी० मित्रा और हीरालाल बोले, जैन पेण्टिङ्गपर, कथा साहित्यके उद्गमपर और कुछ मूर्तियोंके जैनत्वपर; तीनों सरल, संक्षिप्त और उपयोगी।

इतिहास-परिषद्में

श्री नेमिचन्द जैन एम० एस-सी० की कवितासे इतिहास-परिषद् आरम्भ हुई। बिना सँवरे, बिना सँभले, शिशु-से सरल और उसी तरह मुसकराते सभापति श्री हीरालालने अपना अध्ययनपूर्ण भाषण पढ़ा।

श्री मित्राका निबन्ध अँगरेजीमें था और पं० नाथूराम प्रेमीका 'यापनीय सम्प्रदाय' पर भाषण हिन्दीमें। प्रेमीजी:जैसे रहन-सहनमें सादे हैं, वैसे ही भाषणमें और जैसे व्यापारमें काइयाँ हैं, वैसे ही तथ्योंके संकलनमें। प्रो० शीलमें अध्ययन भी है और श्रम भी। कवि पुष्पेन्दुकी 'अतीत-स्मृति' पर परिषद् समाप्त हुई।

साहित्य-परिषद्में

"इस श्वेताम्बर मन्दिरमें दिगम्बर और श्वेताम्बर इकट्ठे वीर-शासन महोत्सव मना रहे हैं, यह प्रसन्नताकी बात है। वाणी कब खिरी, यह

महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण तो वह वाणी ही है। पूज्य पण्डितोंसे प्रार्थना है कि वे विवादोंपर, खोजके भावसे सम्मति तो दें पर अनुचित बल नहीं। विभिन्न धर्मवालोंके साथ हमें सहयोग करना है, तो जिन श्वेताम्बर-दिगम्बरोंके एक ही भगवान् हैं, उनमें यदि मतभेद हो भी तो वह शास्त्रीय ही है, जीवनमें उससे विभेद नहीं आना चाहिए। विचारोंकी विभिन्नतामें जीवनकी एकता हो तो हमारी संस्कृतिकी विशेषता है।" इन शब्दोंके साथ साहू शान्तिप्रसादजीने साहित्य-परिषद्का कार्य आरम्भ किया। आजकी परिषद् एक श्वेताम्बर मन्दिरमें बुलायी गयी थी और सभापति डॉ० नाग थे। मैंने लखनऊ-परिषद्में भी अनुभव किया था कि साहूजीके मनमें एक विशाल जैन संघका राष्ट्रीय स्वप्न है और यहाँ भी विशालताके बाधक विभेदोंको जोड़नेमें वे एक कड़ीकी तरह हैं।

श्वेताम्बर बन्धु श्री अमृतलालने कहा कि पचीस वर्षोंमें मैंने आज पहली बार श्वेताम्बर-दिगम्बर बन्धुओंको मिले देखा है और इसका अर्थ है कि हम भगवान्की वाणीके, जिसका आधार विश्व-बन्धुत्व है, प्रचारकी पात्रता ले रहे हैं। सर सेठ हुकुमचन्दजीने भी एकताकी अपील की। इसी भावकी एक कविता पढ़ी गयी और भगवान् महावीरकी जयसे हॉल गूँज उठा। इतनी सम्पूर्ण जय-ध्वनि मैंने इस उत्सवमें पहली बार सुनी।

"अब पण्डित जैनेन्द्रकुमारका भाषण होगा" सभापतिने कहा और जैनेन्द्रजी आये – "मुझे पं० जैनेन्द्रकुमार कहा गया, इसमें बहुत कुछ धर्मके अनुसार छोड़ने लायक़ है। पण्डित मैं नहीं, कुमारकी सीमा पार कर गया; इन्द्रत्व मुझमें है नहीं, जैन ही मैं हूँ।" इसके बाद उन्हें जो कहना था; वे उसमें लीन हो गये। यहाँतक कि सभापतिका परचा भी असफल रहा और ज़ोरसे कुरता खींचनेपर ही उनकी लीनता टूटी। भाषण बड़ा सुन्दर था। उसमें सच्चे धर्मको एकताका आधार बताया गया था।

"भले आदमियो, कोई कामकी बात करो!" यह जमनाप्रसादजीका पण्डिताऊ बहसके विरुद्ध जिहाद था। आपका प्रस्ताव था कि एक कमेटी

बने, जो परस्पर सम्पर्कके लिए प्रयत्नशील हो। भाई कौशलप्रसादजीने इस खाईको सत्याग्रह-द्वारा पाटनेके लिए बीस तरुणोंका आह्वान किया। इस आह्वानमें हृदयकी पीड़ा न थी – पीड़ाका करुण अभिनय ही था।

प्रो० बडुवाने बुद्धसे पहले भारतकी दशापर एक भाषण दिया और तब सभापतिजी बोले। दोनों भाषण सुन्दर थे। इस प्रकार साहित्य-परिषद्-का अधिकतर समय जीवन-साहित्यपर विचार करनेमें ही लगा।

फिर खुला अधिवेशन

रातमे खुला अधिवेशन हुआ। आज पण्डालपर पण्डितोंका राज्य था – खूब शास्त्रचर्चा हुई और महोत्सव समाप्त हो गया। उसके संस्मरण भी समाप्त हो गये, पर मेरी आँखोंमें अब भी यह किसकी तसवीर है? यह न भाषण देता है, न रिपोर्ट पढ़ता है, न झपटकर चलता है। अपने ही किसी ध्यानमें डूबा इधर-उधर होता रहता है। बहुत-से लोग आते हैं, इसके कानमें कुछ कहते हैं और यह उनके कानमें कुछ कह देता है। जो प्रमुख लोग आते हैं, इसे नमस्कार करते हैं और मुसकराकर यह उन्हें उपयुक्त स्थानपर बैठा देता है। ये स्वागतमन्त्री और इस महोत्सवके संयोजक श्री बाबू छोटेलाल जैन हैं, जो इस उत्सवकी सांस्कृतिकताके प्राण हैं; इतने विशेषज्ञोंको यहाँ खींच लानेवाली डोर हैं और जिन्होंने प्रस्तावित एकेडेमीको पचास हजार रुपयोंके साथ अपना जीवन भी दान दिया है। उनकी कार्यपद्धति और जीवनवृत्तिको देखकर मैंने सोचा, ऐसे व्यक्ति ही किसी निर्माणके प्राणपुरुष हो सकते हैं। उन्हें प्रणाम!

कुम्भ महान् : १९५०

१३ अप्रैल १९५० महाकुम्भका मुख्य स्नान दिवस ! ज्योतिषियोंके अनुसार दिनमें तीन बजेसे रातके दस बजे तक ही पुण्य-पर्व लगभग सात घण्टे और इन सात घण्टोंके लिए देशके कोने-कोनेसे आ उमड़े दस लाखसे अधिक नर-नारी, क्या किसी राष्ट्रके जीवनकी साधारण घटना है ?

पिछले किसी कुम्भमें एक अमेरिकन पत्रकारने स्व० महामना मालवीयजीसे पूछा, "इतने आदमियोंको बुलानेके लिए आपने प्रचारमें कितने रुपये खर्च किये है ?"

अपने सजीव स्वभावके अनुसार महामनाने कहा, "रुपयेके नामपर एक पाई नहीं और प्रचारके नामपर सिर्फ़ छपी हुई एक लाइन !"

रल गया बेचारा पत्रकार, तो महामनाने पास पड़ा पंचांग उठाकर दिखाया कि उसमें वैशाख मासके एक पृष्ठपर एक तिथिके सामने विवरणमें लिखा है कुम्भ पर्व ! महामनाने कहा, "बस, जनताने ये चार अक्षर पढ़े और वह आ जुटी। इसके अतिरिक्त कोई निमन्त्रण, कोई नोटिस, इस कामके लिए नहीं छपा !"

अमेरिकन पत्रकारने महामनाको बताया कि हमारे देशमें ऐसा मेला करना हो, तो बीस हज़ार पौण्ड धन कमसे कम चाहिए और एक सालका समय; जिसमें लाखों पोस्टरों, नोटिसों, पुस्तिकाओं और पत्रोंसे हम देशका कोना-कोना छा सकें !"

कुम्भ : भारतीय राष्ट्रकी मानसिक सामूहिकताका एक प्रतीक; यह सामूहिकता कितनी गहरी, कितनी महान् और कितनी आन्तरिक कि

शताब्दियोंके परिस्थिति-चक्रोंमें पड़कर भी अजेय और आज भी विश्वमें अनुपमेय !

भारतीय राष्ट्रकी सामूहिकता ! जिस राष्ट्रके उच्च शिक्षितोंमें भी केला खाकर छिलका सड़कपर फेंक देना साधारण बात है, उसमें सामूहिकता कहाँ ? कितने हैं, जो सार्वजनिक वस्तुओंके प्रति आत्मीयता रखते हैं, फिर जब आत्मीयता ही नहीं, तो सामूहिकता कैसी ?

प्रश्न चुटीला होकर भी अपनेमें सत्यको समाये है, पर सम्पूर्ण सत्य नहीं है। गंगा क्या है ? हमारे देशकी एक नदी। गाय क्या है ? हमारे देशका एक पशु। पीपल क्या है ? हमारे देशका एक वृक्ष। वेद क्या है ? हमारे देशकी एक पुस्तक। हिमालय क्या है ? हमारे देशका एक पहाड़। समुद्र क्या है ? हमारे देशका एक जलोच्चय। यह बुद्धिको बात है, पर हमारे हृदयमें इन सबके प्रति एक वन्दनीयता व्याप्त है। यह वन्दनीयता क्या है ? नागरिककी राष्ट्रकी सम्पूर्णताके प्रति आत्मीयता – राष्ट्र हमारा है, उसकी हर चीज़ हमारी है, हमें प्रिय है। इस आत्मीयताकी कोखसे ही उस बलिदानकी उत्पत्ति है, जो राष्ट्रको रक्षाके लिए हमारे देशमे सदा सुलभ रहा है और विश्वके बलिपन्थी इतिहासमें जिसकी कोई उपमा नहीं !

यह आत्मीयता, यह सामूहिकता, यह वन्दनीयता ज्ञानकी गोदमें जनमी थी, हमारा साहित्य साक्षी है।

यह आत्मीयता, यह सामूहिकता, यह वन्दनीयता, आज अज्ञानकी छायामें खेल रही है, इस कुम्भमें हमने देखा।

यह आत्मीयता, यह सामूहिकता, यह वन्दनीयता, नष्ट नहीं, सहेजकर, संवारकर फिरसे यथास्थान प्रतिष्ठित करनी है, यह हमने कुम्भमे सोचा !

पर्वतमाला – दूर-दूर खड़े पर्वतोंके मध्यमें बहती गंगाकी धाराएँ और उनके दाहिने तटकी पतली-लम्बी पटरीपर बसा हरद्वार ! हरद्वारसे कनखल तक कोई चार मीलका लम्बा तट। निर्मल जल, गहरा तल, सम-

तल तट, तेज़ प्रवाह और बर्फ़ीलो शीतलता; गंगोत्रीसे गंगा सागर तक; ऐसी गंगा कहीं नहीं !

कथा है कि भगीरथके तपसे गंगा स्वर्गसे उतरी और शिवकी जटामें समा गयी। वहाँसे भगीरथ आगे-आगे मार्ग दिखाते चले और पीछे-पीछे शिव गंगाको छोड़ते हुए। हरद्वारमें आकर उन्होंने जटा झाड़ दी और गंगासे कहा, "जा, अब तेरा जिधर जो चाहे चलो जा !" पुराणकथाके अनुसार जिस स्थानपर यह घटना घटी, उसीका नाम है ब्रह्मकुण्ड !

हमारी इन कथाओंमें इतिहास और दर्शनका कवित्व सुरक्षित है। अब समय आया है कि इस कवित्वके इतिहास और दर्शनकी खोज हो !

आज तो कनखल हरद्वारका एक अंग है, पर दो-ढाई हज़ार वर्ष पहले हरद्वार ही कनखलका अंग था। महाकवि कालिदासने अपने 'मेघदूत' मे मेघको मार्ग बताते हुए कहा है,

"तस्माद्गच्छेरनुकनखलं शैलराजावतीर्णां
जह्नोः कन्यां सगरतनयस्वर्गसोपानपङ्क्तिम् ॥"

हे मेघ, तुम वहाँसे 'कनखलके पास' हिमालयसे उतरी गंगाके तट जाना, जिसने सगरकी सन्तानको स्वर्गमें भेजनेका कार्य किया था !

स्पष्ट है कि कालिदासके समय हरद्वार नहीं, कनखल ही देशमें प्रसिद्ध था। 'अनुकनखलम्' में यह इशारा है कि ब्रह्मकुण्डका धार्मिक महत्त्व उन दिनों भी था ही ! कनखलका राष्ट्रीय महत्त्व तो स्पष्ट ही है। भारतके सबसे पहले राजा हैं दक्ष प्रजापति और कनखल थी उनकी राजधानी ! इस तरह कनखल – आजका एक मामूली क़स्बा कनखल—हमारे देशकी और शायद संसारकी सबसे पहली राजधानी है और मेरा विश्वास है कि कनखल आज कितना भी उदास क्यों न हो, कलका भारत एक दिन समारोहके साथ उसे अभिनन्दन देगा।

हरद्वारका मुख्य महत्त्व यह है कि यहीं पहली बार गंगा समतल भूमिपर आती है – ब्रह्मकुण्ड गंगाकी समतलका पहला पत्थर, यह मस्तिष्कका

ज्ञान और ब्रह्मकुण्डका स्नान स्वर्ग और मुक्तिका एक सरल साधन, यह कोटि-कोटि जनताकी भावनाका सिंहद्वार। इस ज्ञान और इस भावनाका संगम नहीं, समन्वय भारतका एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सूत्र है।

हरद्वारमें लोग स्नान करने भी आते हैं और सैर करने भी। स्नान करनेवाले सैर न करते हों और सैर करनेवाले स्नान सो बात नहीं, पर दोनोंकी मानसिक दिशाएँ अलग-अलग हैं। स्नान करनेवालोंका दिशाबिन्दु है—ब्रह्मकुण्ड! वे हरद्वार कनखलके सौ घाटोंपर गंगा-स्नान कर लें, पर ब्रह्मकुण्डमें स्नान न करें, तो उनकी यात्रा उनके लिए व्यर्थ रही।

कुम्भपर्वका एक दिन, ब्रह्मकुण्डका छोटा-सा स्थान, दस लाखसे ऊपर-की भीड़ और भीड़ माने अप्रशिक्षित नर-नारी। फिर उस दिनमें भी कई घण्टे साधुओंके ही स्नानके लिए सुरक्षित और ब्रह्मकुण्ड तक जाने-आनेके मार्ग सँकरे-बेढंगे; एक असम्भव घटना है कि दुर्घटना न हो—हर कुम्भ लाशोंकी एक प्रदर्शनी देखकर ही समाप्त होता है।

एक चित्र, जिसमें स्थितिके अनुमानकी सम्भावना है। ब्रह्मकुण्ड-बिड़ला टावरसे रोड़ियोंके तट तक, गंगाके लगभग एक फर्लांङ् पाट को पाटता किश्तियोंका एक पुल और उसे साधता एक लोहेका रस्सा। साधुओंके स्नानका समय होनेके कारण ब्रह्मकुण्ड तक जानेके सब मार्ग बन्द। अब कुछ मनुष्य रोड़ियोंके तटसे, चमगादड़ोंकी तरह उलटे उस रस्सेपर लटके कि झूले-झूले वे गंगाका पूरा पाट पार कर ब्रह्मकुण्ड जा उतरें और एक गोता मार लें। यह मृत्युका मार्ग था—स्वर्गका पुराण-वर्णित पथ भी इससे कठिन तो क्या होगा? एक डुबकीके लिए, जीवन ही डुबका देनेका यह ख़तरा!

कुम्भके पर्वका समय और ब्रह्मकुण्डमें स्नान; वाह क्या बात है, पर यह कैसे हो? तीन आनेकी एक छोटी-सी टुन-टुन घण्टी और चार आने-के पीतलके कृष्ण भाई भवानी गिरिकी दूकानसे ख़रीदे और प्रातःकाल

ही सामनेके प्लेटफ़ार्मपर जम गये। तीन बजे तक यहाँ आनेमें कोई पाबन्दी नहीं; पर तीन बजे होने लगा प्लेटफ़ार्म साफ़, तो जेबसे निकालकर कृष्ण रख लिये और जो देखा कि पुलिसवाला आ रहा है, तो आँखें कर लीं बन्द, टुनका दी घण्टी और इस टुनकमें ही मिला दी अपनी गुनगुनाहट! बस पूजाका पूर्ण दृश्य सम्पन्न और पुलिस बेकार। सिपाही निकल गया कि घण्टी बन्द, आँखें खुलीं ओर होंठोंपर मुसकराहट। असत्यके वाहनपर चढ़ा भक्त सत्यके मन्दिरमें उपस्थित!

एक और दृश्य : धिकलता-धकेलता एक पागल कहींसे प्लेटफ़ार्मपर आ गया। स्वयंसेवकोंने रोका, न रुका, पुलिसवालोंने टोका, न मुड़ा। नंगे पैर, नंगे सिर, अँगोछा एक शरीरपर और गंगाकी ओर गति। सब घबराये कि डूब न जाये, पर वह निर्लिप्त जीवनसे भी ओर मृत्युसे भी। जब उसे कोई हटाये, तो वह तालियाँ बजाये और लो, वह कूद पड़ा ब्रह्मकुण्डमें और बह चला हरकी पैड़ीकी ओर। रक्षकदलके स्वयंसेवक बचानेको साथ कूदे। उसे उन्होंने जा पकड़ा कि वह खड़ा हो गया और गम्भीर मुद्रामें बोला, "अबे पागल हो, हम तो नहा रहे हैं।" ज़रा सरस होकर बोला, "यारो, बारह सालमें आता है कुम्भ! नहाने दो, नहाने दो लोगोंको, क्यों रोकते हो?" और तब वह इतने ज़ोरसे हँसा कि रक्षक झेंप-से गये!

यह भक्त भी असत्यके वाहनपर चढ़ा, सत्यके मन्दिरमें उपस्थित था! ये पाप कर रहे थे या पुण्य? हमारे विद्वान् इसपर एक अच्छा शास्त्रार्थ कर सकते हैं, पर जीवन-शास्त्रके एक नम्र विद्यार्थीके लिए तो एक ही प्रश्न है कि भावनाकी वह कौन-सी धारा है, जो हज़ारों-लाखों आदमियोंको ब्रह्मकुण्डकी ओर बहाये लिये जा रही थी!

वह भावना है श्रद्धाकी। श्रद्धाका पिता है विश्वास, विश्वासका प्राण है ज्ञान और ज्ञानकी आत्मा है सत्य, पर इन दृश्योंमें न सत्य है, न ज्ञान है, न विश्वास है, एक वहम है, एक संस्कार है, फिर यह श्रद्धा

कहाँ है ? ठीक है, पर विश्वास सत्यज्ञानपर आश्रित हो या वहम-संस्कार-पर, वह श्रद्धाका पिता है। इस श्रद्धाका ही एक रूप है अन्ध-श्रद्धा और यह कुम्भ इस अन्ध-श्रद्धाका इस युगमें सर्वोत्तम प्रदर्शन है।

श्रद्धा सेवनीय है, अन्ध-श्रद्धा वर्जनीय। नवयुग श्रद्धाकी अन्धता दूर करनेका अंजन निर्माण कर रहा है, पर क्या कोटि-कोटि नर-नारियोंके मानसपर छायी यह अन्ध-श्रद्धा इतने ही विचारकी पात्र है ? गहरे-गहरे और गहरेसे गहरे उतरकर मैंने अपनेसे कहा कि हमारे विश्वविद्यालयका कोई प्राध्यापक एक महानिबन्ध (थीसिस) लिखकर आचार्यता (डॉक्ट-रेट) ले ले, कमसे कम हमारे राष्ट्रकी अन्ध-श्रद्धाके कोषमें तो इतनी विचार-सामग्री है। चीज़ यह इतनी ठोस न होती, तो बुद्ध, महावीर और गान्धीके तीव्र प्रकाशमें भी कैसे ठहरती ?

इस राष्ट्रमें अन्ध-श्रद्धाके प्रवर्तक हैं राष्ट्र-पुरुष श्री कृष्ण – गीताके गायक, महान् राजनीतिज्ञ, योगेश्वर कृष्ण !

रामके द्वारा सुव्यवस्थित समाज-मर्यादा युग-युगोंके घात-प्रतिघातसे बिखर चली थी। महाभारतका युद्ध इसी बिखराहटका प्रदर्शन था – प्रदर्शन भी और उसे रोकनेका प्रयोग भी। इसीके बीचमें एक दिन श्री कृष्णने अर्जुनसे कहा था, **"लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ?"** समाजकी मान-मर्यादाके, रीति-रिवाज़के जो कार्य अर्जुन, तुझे अपने करने योग्य नहीं जँचते, तेरे स्टैण्डर्डसे नीचे हैं, उन्हें भी तू करता चल; क्योंकि तुझे देखकर समाजके दूसरे लोग भी उन्हें करेंगे, नहीं तो वे भी छोड़ देंगे। यह लोकसंग्रह ही रूढ़िवाद, अपरिवर्तनवाद, परम्परावादका पिता है और इसीकी पुत्री है अन्ध-श्रद्धा, जो कार्यके स्वरूपकी पूजा करती है, उसके तत्त्वका – कार्याकार्यका – ऊहापोह नहीं !

महाभारतसे मुसलमानी राज्य तक यह बिखराहट बढ़ती गयी, पनपती

रही और अँगरेज़ी राज्यने तो उसे शत-शत प्रयत्नोंसे पूर्णता तक पहुँचा दिया। इस प्रकार हज़ारों वर्षोंके लम्बे समयमें हमारा राष्ट्र शस्त्रहीन, शिक्षाहीन, उद्योगहीन हो नहीं हुआ, जीवनहीन हो गया, पर बारहसे भी अधिक शक्तिशाली आक्रमणों और अँगरेज़ोंके षड्यन्त्रकारी घोर प्रयत्नोंके बाद भी यह राष्ट्र अन्तर्जीवनसे हीन नहीं हुआ, इसका रहस्य यही है कि जनताका संस्कृति – जीवन दर्शनके मूल स्रोत – से सम्पर्क बना रहा और यह विश्वके सांस्कृतिक इतिहासका कितना बड़ा चमत्कार है कि इस महान् सम्पर्कका सूत्र है अन्ध-श्रद्धा – तर्कहीन विश्वास; और यों अन्ध-श्रद्धाने हमें लम्बी शताब्दियों तक जीवित रखा !

कुम्भमें हमने यह भी देखा कि यह अन्ध-श्रद्धा कितनी गहरी है और यह भी कि यह अब कितनी सड़ गयी है। कुछ नमूने ये हैं :

कन्धेसे टकनों तक झूलता चोगा – गहरे काले कपड़ेका, सिरपर बने हुए बालोंकी जटा, माथेपर सिन्दूरका तिलक, आँखोंमें सुलफ़ेकी लाली, मुँहमें बनी हुई लाल, लम्बी, लटकती जीभ, एक हाथमें खप्पर और दूसरा आशीर्वादकी मुद्रामें उठा हुआ; देखनेमें काली माई, असलमें बहुरूपियेकी कला।

कोने-कोनेमें फैली लाखोंकी भीड़में एक भी मानव ऐसा नहीं, जो न जानता हो कि यह काली नहीं, पर स्त्री-पुरुष उसके पाससे गुज़रते हैं, हाथ जोड़ते हैं, पैसे खप्परमें डालते हैं और बालकोंसे उसके पैर छुआते हैं। बहुरूपिया चतुर है, वह बालकोंके सिरपर हाथ रखता है और इस प्रकार माता-पिताको कृतार्थ करता है। एक सप्ताहमें इस बहुरूपियेके खप्परमें एक हज़ार रुपयेसे अधिक पड़े। पूजा भी और व्यापार भी !

भरा-ताज़ा विशाल हाथी, ऊपर चाँदीका बहुमूल्य हौदा, उसपर विराजमान महन्तजी और हाथी बाजारके बीचमें ! आते-जाते नर-नारी

पैसा, इकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी हाथीको देते हैं, वह अपनी सूँड़में ले अपने महावतको दे देता है। नर-नारी दोनों हाथोंसे हाथीको छू, आँखें बन्द कर अपने माथेसे लगाते हैं।

मैंने एक बुढ़ियासे पूछा, "क्या बात है माँजी ?"

बोली, "गणेशजी हैं बेटा ! तू भी छू ले !"

बीचमें विशाल धूनी; जलती-जागती और चारों ओर साधु लोग। इनमें पाँच-सात सुलफ़ेकी चिलम खींच रहे है और होड़ लगी है कि कौन लम्बी लट निकालता है, दो-चार साधु हथेलीपर तमाखूमे गाँजा मल रहे हैं, यह नयी चिलमोंकी तैयारी है। जब नयी चिलमोंमे 'चुगल' पड़ता है, तो एक साधु कहता है :

"चिलम चमेली, फूँक दे ठेकेदार की हवेली !"

चिलम भरकर मण्डलीके प्रधानको दी जाती है, तो वह ज़ोरसे पुकारता है :

"चाहे दुनिया फुँके पर चिलम ना बुझे, हर-हर महादेव !"

कोई पीनेसे मना करता है, तो कायर समझा जाता है और उसपर करारे ताने पड़ते हैं :

"जिसकी चिलम ठण्डी, उस भड़वे की माँ रण्डी !"

और तब उसे प्रोत्साहन दिया जाता है, उकसाया जाता है :

"जो चलती चिलम पीवे, वो लाखों साल जीवे !"

और इसके बाद मण्डलीका प्रधान अपने हाथसे चिलम उसकी ओर बढ़ाते हुए कहता है, "अबे ले, पिये जा और जिये जा, क्या रखा है नानूमें। यह तो भोले भण्डारीका परसाद है। जब मुँह खोलो, तब हाँ बोलो !"

पाससे गुज़रते लोगोंमें कोई मुफ़्तका पिऊ मण्डलीके निकट ठिठकता है, तो उसे एक ललकार दी जाती है – "जा बच्चा, जा, अपनी राह लग,

सन्तोंके मुँह नहीं लगा करते !" उसके पैरोंकी ठिठक हरकतमें नहीं आती, तो दूसरा साधु कहता है, "अबे, भोले भण्डारीने दी और सन्तोंने पी; तू क्या पियेगा लण्डीके !"

इस मण्डलीमें नये आगन्तुकोंके लिए यह धिक्कार ही हो, ऐसा नहीं, उपहारका आयोजन भी है। आगन्तुक कोरा नहीं भरा है और आते ही जेब या अण्टीसे पुड़िया निकालकर कहता है, "लो महाराज, यह गोली हमारी भी दाग दो !" तो तुरन्त आ-बैठ होती है और चेलाजी पुड़िया लेकर सुलफ़ा निकालते हैं। अब उसमें यदि पूरी ख़ुराक है, तो कोई बात नहीं और मसाला कम है, तो एक हलकी-सी बौछार उसपर पड़ती है, "भगत, लाया है छर्रा और कहता है गोली; अरे, सन्तोंसे भी गोलमाल करता है !

भगत यदि नम्र है और अपनी ग़रीबीका इशारा देता है, तो बड़े महाराज प्रसन्नतासे कहते है, "कोई बात नहीं बच्चा, ग़रीबी-अमीरी सब भगवान्‌की माया है। फिर सन्तोंके लिए तो लाख भी राख है और राख भी लाख है।"

चिलम भरी जाती है और सन्तोंके बाद भगतको दी जाती है। भगत सन्तोंकी पी हुई चिलम पी सकता है, पर उनकी 'साफी' का उपयोग नहीं कर सकता। साफी : एक पानीमें भिगोकर निचोड़ा हुआ साधारण वस्त्र, जिसे चिलमकी तलीपर लपेट, धुआँ खींचा जाता है। भगतके पास अपनी साफी होनी चाहिए, नहीं तो उसे सूखी चिलम खींचनी पड़ेगी।

इस मण्डलीके पाससे भी यात्री नर-नारी गुज़रते हैं, सिर झुकाते हैं, हाथ जोड़ते हैं और पैसे चढ़ाते है। वे देखते हैं ये साधु क्या कर रहे हैं, पर उनका मन जैसे तर्कहीन है और वे मानते है कि वे जो कर रहे हैं, उन्हें वही करना चाहिए।

भँगड़ी साधुओंकी एक ऐसी ही मण्डलीमें यह नारा मैंने सुना था — **"साधू पिये, भजन में लीन। विरस्ती पिये तो दुखिया दीन !"** साधु यदि

नशा करे, तो भजनमें लीन रहे और गृहस्थ करे, तो वह दुःख और हीनता-में ग्रस्त रहे।'

हरद्वार उत्तर प्रदेश सरकारके नशा-निषेध क्षेत्रोंमें एक है, पर साधु-समाजके अनुरोधपर कुम्भके दिनों प्रान्तीय सरकारने इस निषेध-क्षेत्रको प्रवेश-क्षेत्र मान लिया था। पता नहीं भविष्यका विचारक इसके लिए प्रान्तीय सरकारकी प्रशंसा करेगा या घोर निन्दा ?

यह हो रही है कथा। पण्डितजी तख्तपर हैं और जनता भूमिपर। पण्डितजी माला, त्रिपुण्ड्र आदिसे सुसज्जित हैं, पर गला पड़ा हुआ है और वही उनका लाउड स्पीकर है। भीड़ काफ़ी है और कोलाहल तो है ही। पण्डितजी कुछ बोल रहे हैं, बोले जा रहे हैं, यह कानोंके बलपर नहीं, आँखोंके सहारे ही मैं कह रहा हूँ; क्योंकि होंठ हिलते तो दीखते हैं, कानों-में कोई शब्द नहीं पड़ता – उनके द्वारपर तो कोलाहलका ही क़ब्ज़ा है। अब दृश्य यह है कि पण्डितजीके होंठ फड़क रहे, हैं, श्रोता उन्हें देख रहे हैं, कथा है, पर शब्दहीन; जैसे यह मूक सिनेमाका कोई दृश्य हो !

मैं खड़ा-खड़ा यह दृश्य देख रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि महात्मा गान्धी और पण्डित नेहरूकी सभाओंमें ज़रा लाउड स्पीकरके ख़राब होते ही जो लोग हल्ला मचाकर नाकमें दम करते रहे हैं, वे यहाँ एक भी अक्षर सुनाई न देनेपर शान्त मौन क्यों बैठे हैं ? बड़ा पैना प्रश्न है, जो झकझो-रता है और तब लगता है कि वे बैठे हैं, तो सन्तुष्ट हैं कि सुनाई नहीं देता, तो नहीं देता, पर पुण्य तो है।

देशकी आत्मा आज व्याख्यानसे कथाके अधिक निकट है, यह एक तथ्य हाथ आया। इसकी व्याख्या मैंने यों की कि हमारा राष्ट्र धर्मके निकट और राजनीतिसे दूर है और धर्म अपनेको खोकर अन्ध-श्रद्धाकी छायामें आश्रित है।

अन्ध-श्रद्धाकी इस छायामें हमारा राष्ट्र लम्बी शताब्दियों जीवित रहा, यह हमने देखा, पर क्या हम इसी छायामें जीते रहें? यह मुख्य प्रश्न बना! ना, ना, ना, यह भीतरका उत्तर है और इस उत्तरकी व्याख्या अभीष्ट है।

राष्ट्रकी सबसे बड़ी शक्ति है – राष्ट्र-चेतना। इसीका लोकप्रिय नाम है भारतीय संस्कृति। संस्कृति ही मूल जीवन-स्रोत है। राष्ट्रके ह्रास-कालमें जब जन-जीवनका सम्पर्क इस मूल-स्रोतसे टूट चला और यों जाति-के सर्वनाशका भय चारों ओर छाया, तो राष्ट्रके कर्णधारों, सन्तोंने जन-जीवनको मूल-स्रोतके साथ अन्ध-श्रद्धाके सूत्रसे बाँध दिया। यह अन्ध-श्रद्धा अन्धी-श्रद्धा भी रही और अन्धोंकी श्रद्धा भी। यह एक प्रकारको विष-चिकित्सा थी – इसमें ख़तरा था, पर यह अनिवार्य थी, क्योंकि और कोई औषध उस दिन हमारे पास ही न थी, जो प्रभावशाली हो।

शताब्दियोंके मन्थन-संघर्षके बाद आज एक अमृत-कलश हाथ आया है और वह है राष्ट्रीयता। इस ऊष्मासे आज भारतका भूगर्भ उफन रहा है। इस उफन में अन्ध-श्रद्धाको, जो आज बल न होकर, मल ही है, धीरे-धीरे छँटना है और यों भारतीय जन-जीवन-राष्ट्रीयताको जीवन-दर्शन के मूल स्रोत भारतीय संस्कृतिसे जीवित रूपमें सम्बद्ध होना है। यही आजका युग-दर्शन है!

कुम्भका मुख्य प्रदर्शन साधुओंका गंगास्नान है। ये साधु अपने-अपने पन्थका जुलूस बनाकर एक निश्चित क्रमसे ब्रह्मकुण्डमें स्नान करने जाते हैं। इन जुलूसोंको साही या स्याही कहते हैं। ये स्याहियाँ देखने लायक़ होती हैं। इनमें बाजे होते हैं, हाथी होते हैं, घोड़े होते हैं, पालकियाँ होती हैं, चाँदीके आसे-बल्लम और पंखे होते हैं। हाथियोंपर चाँदीकी अम्बारियाँ–हौदे–और मख़मलकी जरी-जड़ी झूलें होती हैं। ये पुराने राजाओंकी सवारियोंसे किसी बातमें कम नहीं होतीं और इन्हें देखकर

नवयुगके पत्रकारको अपनेसे पूछना पड़ता है : "युगकी जिस धारा में हमारे देशके राजा तिनकोंसे भी सस्ते बह गये, उसमे धर्मके ये राजा कब तक टिके रहेंगे ?"

प्रश्न बड़ा बेधक है, पर इसका उत्तर उस दिन मिला, जिस दिन साधुसम्राट् जगद्गुरु शंकराचार्यका जुलूस निकला। आगे-आगे दो बाजे इसके बाद चाँदी-सोनेके आसे-बल्लम और मखमली पंखे और तब चाँदीकी अम्बारीमें विराजमान जगद्गुरु; पीछे हज़ारों संन्यासी !

यह अम्बारी इतनी विशाल और बोझल कि हाथीकी कमर, पर पड़े, तो वह अपने कन्धे और पुट्ठे साधनेको विवश हो, पर आज यह बारह मानवीय कन्धोंपर प्रतिष्ठित और ये कन्धे न भक्तोंके, न शिष्योंके; कुछ रुपयोंपर लाये गये मज़दूर मानवोंके; जिनकी देह फटे-मैले वस्त्रोंसे ढकी हुई – हाँ नंगे नहीं दीखते तो ढकी हुई ही, पैर नंगे और मैं देख रहा हूँ कि ये बारह दीन मानव पिसे जा रहे हैं, भीड़से भी और बोझसे भी।

मनुष्य कुछ पैसोंके बलपर किसी मनुष्यको वाहन बना, उसपर चढ़े यह अहंकारकी परिसीमा है !

मनुष्य कुछ पैसोंके लिए अपने कन्धोंपर किसी मनुष्यको ढो चले, यह विवशताकी परिसीमा है !

जहाँ ये दोनों परिसीमाएँ मिलती हैं, वहीं नवयुगके पत्रकारका बेधक प्रश्न अपना समाधान पाता है – 'हमारे देशमें जबतक दीनता है' – मानसिक दीनता, आर्थिक दीनता, सामाजिक दीनता – तभीतक धर्मकी यह अम्बारी है और जिस दिन यह दीनता युगका सहारा ले, शक्तिका रूप धारण करेगी, उसी दिन, उसी क्षण ये कन्धे यहाँ न होंगे और यह अम्बारी धड़ामसे धरतीपर आ गिरेगी।

इस धड़ामके साथ सब दिशाओंसे एक गूँज उठेगी – 'अब यहाँ कोई राजा नहीं रहा !' और हमारे कान सुनेंगे – 'सामाजिक समानताकी जय !'

प्रश्नके समाधानसे मुझमें जो उत्साह उगा, उसने मुझे विचारके एक नये द्वारपर खड़ा कर दिया – इस धार्मिकताके प्रति हमारे आकर्षणका केन्द्र-बिन्दु क्या है ?

यह केन्द-बिन्दु है परलोक !

और यह परलोक हमारी किस मानसिक वृत्तिका प्रतीक है ?

अमर जीवनका !

और अमर जीवनका रहस्य क्या है ? स्वरूप क्या है ?

जीवनमे निरन्तर कर्म-सत्कर्म और परलोकमें पूर्ण सुख-शान्ति ! तो परलोककी भावना इस जीवनको शुद्ध, सत्कर्मरत रखनेका प्रेरक प्रकाश है और यों जीवन है यात्रा और परलोक है लक्ष्य – एक है सफ़र दूसरा है मंज़िल !

कितना उल्लास है इस विचारमे, पर यह भी तो यहीं है कि हम आज जीवनकी शुद्धताको खोकर, बाह्य कर्मकाण्डोंके सहारे परलोकका सुख चाहते है । ओह, उस यात्रीकी तरह, जो यात्राका कष्ट उठाये बिना ही, तीर्थपर पहुँचनेका सुख चाहता है – तीर्थकी तसवीरें और दूसरी चीज़ें अपने घरमें रखकर !

मैं सोच रहा हूँ और देख रहा हूँ कि जहाँ जगद्गुरु स्नान कर रहे हैं, उनके सामने ही तटपर खड़ा है एक पण्डा, अपनी मरी-सी बछिया लिये और एक यजमान बैठा है बछियाके पास ! बछियाके गलेकी रस्सी यजमानके अँगूठेसे दबी है, उसीमें दबा है सवा रुपया और थोड़ा गंगाजल । पण्डाजी बोल रहे हैं संकल्प – कुछ शुद्ध, कुछ अशुद्ध और कुछ अण्ड-बण्ड; सब मिलाकर इसका अर्थ है : "मैं यजमान स्वर्गके मार्गमें स्थित वैतरणी नदीको सुखपूर्वक पार करनेके लिए यह गौ अपने पुरोहितको दान करता हूँ ।"

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियोंमें युरोपके पादरी नियत मूल्य लेकर ईसाके नामपर पापमुक्तिका प्रमाण-पत्र बेचा करते थे; यह गोदान क्या

उसीकी भारतीय प्रतिलिपि नहीं है ? इसी प्रश्नका उप-प्रश्न है यह – तो क्या मानसिक विकासकी दृष्टिसे हम अभी पन्द्रहवीं शताब्दीमें ही जी रहे हैं ?

यह धार्मिकता कुछ भी हो, अब जीवित नहीं रह सकती; पर हाँ, इस घोषणामें एक भ्रमकी सम्भावना है – क्या वशिष्ठ, विश्वामित्र, पतंजलि, कृष्ण और अरविन्द-द्वारा पोषित हमारी अध्यात्मसाधना भी बह जायेगी ? ना, वह शाश्वत सत्य है, धार्मिकताकी यह प्राचीर टूटते ही वह सत्य अधिक चमकेगा और जीवनमें सुलभ होगा ।

यों समझना है कि अध्यात्म है निधि । वह समयके घात-प्रतिघातोंमें खतरेमें पड़ चली, तो सन्तोंने धार्मिकताकी झाड़ी उसपर रोप दी । यह झाड़ी खूब फली-फूली और निधिपर छा गयी, पर समयके अगले घात-प्रतिघातोंमें निधिको लोग भूल गये और उससे भी आगे यह कि यह झाड़ी ही वह निधि मानी जाने लगी । नवयुगका माली इस झाड़ीको झाँग रहा है कि वह निधि प्रकाशमें आये । यह शुभ है, पर मूर्ख नागरिक नाखून काटनेको उँगली काटना मानकर चिल्ला उठे, तो नाई क्या करे ?

मूर्ख नागरिककी यह चिल्लाहट भयावह है, इसके साक्षात् अनुभवका अवसर कुम्भमें था । एकत्रित जनताकी मानसिक दशाका गम्भीर अध्ययन साक्षी है कि राष्ट्रमें सांस्कृतिक जागरणका क्षेत्र तैयार है, पर प्रश्न यह है कि उसे कौन बोये ? क्या यह कार्य स्वतन्त्र राष्ट्रकी शासन-संस्था कर सकती है ? ना, वह तो अधिकसे अधिक सामाजिक नैतिकता तक ही जनताको ले जा सकती है ।

दुर्भाग्य है कि सांस्कृतिक जागरणका अनुष्ठान करनेको आगे आये नेता, विद्वान् और संस्थाएँ, नेतृत्वके मोहमें भटककर राजनैतिक परिग्रहमें फँस-उलझ जाते हैं । निश्चय ही अध्यात्मसे नीचे गिरकर प्रचारमें पड़नेवाले ये लोग संस्कृति-रक्षाके लाखों नारे लगाकर भी संस्कृतिके शत्रु ही हैं और यों घोर अभागे, पर यह इनका ही नहीं हमारे राष्ट्रका भी अभाग्य है;

क्योंकि पतनकी इस परम्परासे यह भय उत्पन्न हो गया है कि हमारे राष्ट्रकी महान् विभूति अध्यात्म कहीं एक शास्त्रीय सिद्धान्त होकर ही न रह जाये; जैसे कुछ पुरानी हवेलियोंमें पूर्वजोंका कोष गड़े रहनेका विश्वास-वहम परिवारके सदस्योंपर छाया रहता है कि है ज़रूर, पर पता नहीं क्या, पता नहीं कहाँ ?

बाहरी रूपमें देशके दो मुख्य अंग हैं, जिनपर राष्ट्रका पतन और उत्थान निर्भर है – जनता और शासन। कुम्भमें दोनोंका पूरा प्रदर्शन था और यों दोनोंके मानसिक विकासके अध्ययनका पूरा अवसर ! तो क्या हमारे राष्ट्रके नवीन अभ्युदयकी पुण्य-वेलामें राष्ट्रकी जनता और शासन-संस्थामें जो धीरे-धीरे मानसिक क्रान्ति हो रही है, इस अध्ययनके प्रकाशमें हम उसे शब्दोंमें तोल सकते हैं ? हाँ निश्चित रूपसे !

लम्बी शताब्दियों तक जिस शासनकी चारदीवारीमें यह राष्ट्र रहा वह राजाधिराजका था, बादशाहे-आलमका था या गवर्नर जनरलका, इस बातमें समान था कि उसकी दृष्टिमें जनताका कोई सम्मान न था – वह उनके उपयोगकी वस्तु थी या उपभोगकी। इस कुम्भमें हमारे इतिहासने पहली बार देखा कि शासन हर दिशामें जनताकी सेवाके लिए, उसके सम्मानकी रक्षाके लिए सतर्क है। जनता ही राष्ट्रकी मूल शक्ति है, वन्दनीय है, स्वामिनी है और शासनका कार्य उसकी वन्दना है, यह कुम्भमें पहली बार, पर प्रत्यक्ष रूपमें हमने देखा और मैं इसे १९५० के कुम्भका महान् उपहार मानता हूँ।

ग़लत स्थानमें शौचके लिए यात्री बैठने लगा तो सिपाहीने उसे मना किया। वह सिपाहीको गालियाँ देने लगा, पर सिपाही वहाँसे न हटा और गालियाँ खाता रहा। अन्तमें उसने कहा, "अरे भाई, मेरे सिरपर यह लाल पट्टीकी टोपी है, इसलिए तू चाहे जितनी गालियाँ दे ले। यह सिर-पर न होती, तो तुझे हरेक गालीका मोल मिल जाता !"

उत्तर प्रदेशके मुख्य मन्त्री माननीय श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ब्रह्मकुण्ड-में स्नान करनेको पधारे। एक अधिकारीने चाहा कि उनके लिए स्थान कर दिया जाये, पर उन्होंने मना कर दिया और गंगामें उतर गये। स्नान कर रही जनता उनके चारों ओर हो गयी और कुछने तो उनपर लाड़में पानीके छींटे भी मारे। हँसते-झुकते वे भीड़के बीचसे ही निकल गये।

इन दो घटनाओंमें शासनके नये दृष्टिकोणका धरती-आकाश है, पर इस धरतीकी पवित्रता और इस आकाशकी उच्चता इन घटनाओंमें सुरक्षित है—

मेला-अफ़सर श्री च० मो० निगम, पुलिस-अफ़सर श्री ला० बा० बैंजल और श्री सतीशचन्द्र आई० सी० एस० (बादमें उत्तर प्रदेशके विकास-आयुक्त) के साथ मैं प्रधान हेल्थ-अफ़सर श्री गुप्ताके घर भोजन कर रहा था कि फ़ोन आया—भारतकी विख्यात नारी-सन्त लखनऊसे देहरादून जाते समय हरद्वारमें कुछ देर ठहर—स्नान कर—देहरादून जाना चाहती हैं। आप ऐसी व्यवस्था कर दें कि उन्हें टीका न लगवाना पड़े।

मैंने देखा, ये अफ़सर परेशान हो रहे हैं और भोजनसे उनका ध्यान उचट गया है। ये सब भी उनके भक्त हैं और उत्सुक हैं कि वे गंगास्नान कर सकें, पर वे टीकेसे कैसे बचें? बहुत-से हल सोचे गये, क़ानूनका सूक्ष्म अध्ययन हुआ, तो जाना गया कि लखनऊमें स्थित सर्वोच्च अधिकारी ही इसकी आज्ञा दे सकते हैं। उन्हें टेलेफ़ोनकी काल बुक करायी गयी। तभी एक सज्जन बोले, "बैंजल! तुम उन्हें स्टेशनसे अपनी मोटरमें बैठा लाना और स्नान कराकर उसीमें छोड़ आना। बस कोई नहीं टोकेगा।" सब लोग हँस पड़े। श्री बैंजलने कहा, "जी, यह तो मैं पहलेसे ही जानता हूँ कि मेरी मोटरको कोई नहीं रोकेगा, पर हम एक आदमीको इस तरह टीकेसे बचा दें, तो फिर जनताको कैसे बाध्य कर सकते हैं कि वह टीका अवश्य लगवाये!" मैंने सुना, तो मैं स्तब्ध रह गया—ओह, हमारे शासन-

तन्त्रमें ऐसे भी लोग हैं, जो जीवनकी पवित्रताको तराजूके पलड़ोंपर नहीं, आँखोंकी पलकोंपर तोलते हैं ?

इस तोलका पूरा प्रदर्शन उस दिन हुआ, जब भारत-सरकारके एक मन्त्री कुम्भमें पधारे ! मेलेकी सीमापर उन्हें रोककर कहा गया कि वे टीका लगवायें। वे तैयार न हुए, तो मेला-अफ़सर और पुलिस-अफ़सरको फ़ोन किया गया, पर दोनोंने कहा कि हम कुछ नहीं कर सकते, क्षमाप्रार्थी हैं। तब स्वायत्त-शासन मन्त्री माननीय श्री आत्माराम गोविन्द खेरको फ़ोन किया गया, पर उन्होंने साफ़ कह दिया, "ना, ना, मैं कैसे टीके-वालोंको रोक सकता हूँ। मैं खुद टीका लगवाकर आया हूँ !" और मन्त्री महोदयको कुरतेकी आस्तीन चढ़ाकर मुई चुभवानी पड़ी !

बहुत-सी भूलोंने एक दुर्घटनाको जन्म दिया और कुछ नर-नारी बालक कुचलकर मर गये। कुम्भके बाद एक दिन तमाम पुलिस कर्मचारी; प्रान्तीय रक्षादलके सदस्य, गुप्तचर पुलिसके कर्मचारी और स्वयंसेवक, एक मौन जुलूसके रूपमें ब्रह्मकुण्डपर एकत्रित हुए और इस प्रदेशके डिप्टी-इन्सपेक्टर जनरल ऑव पुलिस श्री कटार सिंहने सबकी ओरसे उन मृतकों-को श्रद्धांजलि दी ! ब्रह्मकुण्डने लाखों श्रद्धांजलियाँ देखी हैं और लाखों ही पितृ-तर्पण, पर उस दिनका दृश्य ब्रह्मकुण्डने पहले कभी नहीं देखा था, यह असंशय है। इस दृश्यपर मैं जब-जब विचार करता हूँ, अपनेमें खो-सा जाता हूँ। कहाँ पुराने कुम्भोंके भयंकर लाठी चार्ज और कहाँ वह श्रद्धां-जलि ? मेरा विश्वास है इस दृश्यको देखकर आकाशमें देवता हँसे, धरती-पर नवयुग मुसकराया और गंगा इसे अपने आँचलमें समेट कृतार्थ हो गयी !

यह हुआ शासनकी मानसिक क्रान्तिका लेखा, पर यह महान् होकर भी अपनेमें अपूर्ण है, यदि हम हरद्वारके स्टेशनकी बात न सुनें !

ढालदार घेरे, पत्थरके फ़र्श, वैशाखकी चिलचिलाती धूप और तीन-तीन दिन तक उनमें बन्द भूखे-प्यासे और हाज़िरतमन्द मुसाफ़िर, जिनके

बालक बिलखते और स्त्रियाँ गश खा जातीं। बादशाही हुक्मसे जीते-जी कोल्हूमें पीड़नेकी नृशंसताको मात करनेवाले दृश्य हरद्वार स्टेशनने अँग्रेज़ी हुकूमतमें देखे हैं, पर इस बार तो वह प्रबन्ध-व्यवस्थाका एक म्यूज़ियम था! हर दिशाका अलग घेरा, जिसपर सायबानका साया, पीनेका पानी, नहानेका नल, शौचालय और अपना टिकिटघर। हर टिकिटपर वही चित्र, जो उस घेरेपर, जो उस टिकिटघरपर, जो उस ट्रेनपर और जो उस मार्गपर। पूछनेका काम नहीं, भटकनेका नाम नहीं – अफ़सरोंका यह निर्णय कि किसी यात्रीको ४५ मिनिटसे अधिक घेरेमें प्रतीक्षा न करनी पड़े। हरद्वारका स्टेशन कुम्भका ही नहीं, हमारे नये युगका एक चमत्कार था!

इस चमत्कारकी रचनामें जाने कितने हाथ और मस्तिष्क लगे थे, पर उन सबका प्रतिनिधित्व था – रेलवे-प्रबन्धक श्री दरमें। श्री दर : एक अनथक, नवयुवक, सदा हँसते, सदा सावधान, सर्वदा और सर्वथा प्रस्तुत, सूझसे भरे, बूझके पण्डित और सरस-सजीव! पैर उनके लोहेके, दिमाग़ उनका रबड़का – हमेशा नयी लचकके लिए तैयार और संक्षेपमें अपनी जगह बेजोड़ आदमी, जिनपर हम गर्व कर सकते हैं।

और लो; यह है जनताकी मानसिक क्रान्तिका एक मुख़्तसर हिसाब भी यहीं!

कुम्भ साधुओंका पर्व है और इसीलिए पर्व-कालका अधिकांश समय साधुओंके स्नानमें बीत जाता है; यह पहला अवसर था कि जनसाधारणके मानसिक क्षितिजमें विद्रोहकी उपाने झाँककर कहा, "क्या हम अछूत हैं, जो साधुओंके साथ स्नान न करें?" और यह विद्रोह गरजकर चुप न हुआ, आगे बढ़ा कि हर साहीके साथ कुछ-न-कुछ लोग आ कूदे और नहाये। कुछ शिक्षित लोगोंने अफ़सरोंका ध्यान इधर आकर्षित भी किया कि खाली स्थानमें जनताको नहाने दिया जाये और उनकी बातको मान दिया गया।

यह भी उसी भावनाका एक रूप था कि साधुओंको इस बार खुले

मार्ग नहीं मिले और उन्हें अनेक बार भीड़से झटके लेने पड़े। एक साधुने मुझसे कहा, "इस बार पब्लिकने बहुत रास्ता घेरे रखा। पहले यह होता था कि महात्माओंको जिधर जाना होता था; पुलिस डण्डे मार-मारकर रास्ता साफ़ कर देती थी, पर इस बार तो ऐसा लगता है कि पुलिसवाले बीमार हैं!" मैंने कहा, "महात्माजी, यह बीमारी तो अब घटती नज़र नहीं आती, बढ़ ही रही है और ऐसा लगता है कि अगले कुम्भमें आप भीड़में कहीं खो न जायें!"

इस हिसाबमें अबतक मैंने जो कुछ कहा, उसका अर्थ है कि जनताका उद्वेलित मन पूछता है, "जब अपनेको ईश्वरका अंश और स्वरूप माननेवाले राजा इस युग-परिवर्तनमें अपनेको मनुष्य माननेके लिए मजबूर हो चुके, तो ये ईश्वरके भक्त साधु अपनेको मनुष्य माननेसे क्यों हिरहिरा रहे हैं?" यह भारतके भूगर्भमें धर्मके प्रति सिन्धड़ रहे विद्रोहका धुआँ था, जो कल प्रज्वलित होगा, तो धर्मके ढोंगकी इस छावनीको फूँककर ही शान्त होगा!

इस विद्रोहकी एक सृजनात्मक धारा भी पूरे वेगसे कुम्भमें बहती दिखाई दी। वह थी नागरिक भावनाकी धारा। शासन और स्वयंसेवक संस्थाने आरम्भसे ही प्रबन्ध-व्यवस्थाको इस तरह बाँधा कि अपार जनतामें व्यवस्थाकी एक मानसिक लीक बन गयी। लोग इशारेपर अपने हाथ चलते, क्यूमें खड़े होते, खड़े रहते, कण्ट्रोल आफ़िसके आदेशोंका पालन करते और यों व्यवस्थाको चालू रखनेमें अपना भाग बँटाते! मैं इसे कुम्भ-की सबसे बड़ी बात मानता हूँ।

यह मानसिक लीक कितनी गहरी है, इसका एक चित्र यह! मैं श्रीमती विद्यावती कौशलके साथ जा रहा था कि बातोंमें उलझे हम सड़क-पर आ गये। रातका समय, सड़क शान्त। हमारी बराबरीसे एक मज़दूर निकला। बोला, "राधेश्याम राधेश्याम।" मैंने कहा, "राधेश्याम राधेश्याम।" तब वह धीरेसे बोला, "बाबूजी, अपने हाथ चलिए और इन बीबीजीको भी इधर कर लीजिए।"

मैंने ज़रा बनकर कहा, "क्यों भाई ?" तो बोला, "साहब, हरेकको अपने हाथ चलना चाहिए और सड़कसे नीचे चलना चाहिए।"

विद्यावतीने मुझसे कहा, "आप बार-बार कुम्भके जिस जन-शिक्षणकी प्रशंसा करते हैं, यह मज़दूर उसका पूरा प्रतिनिधि है।"

मेरा मन अपनी भावुकतामें डूब गया और मुँहसे निकल पड़ा, "राधेश्याम ! राधेश्याम ! यह उस प्रतिनिधित्वको मेरा प्रणाम ही था !"

मध्य भारतकी श्रद्धाके फूल

"दादा तो २० तारीखको इन्दौर ही आ रहे हैं, फिर क्या करेंगे खण्डवा जाकर ?"

भाई श्रीराम शर्मा 'आगार' ने पूज्य माखनलालजीके दर्शन करनेको खण्डवा जानेका मेरा प्रस्ताव सुनकर मुझसे यह पूछा, तो मेरे प्रश्नका यह उत्तर ही हो गया। अस्वस्थताके कारण यात्राका बोझ उठ न रहा था और भावनाकी प्रबलताके कारण पैर रुक न रहे थे। कवि 'आगार' के प्रश्नने गति और अवरोधका समन्वय कर दिया।

अब २० अक्तूबर १९५१, मेरी यात्रा भी थी और मंज़िल भी। मालव हिन्दी विद्यापीठ इन्दौरमें उस दिन 'माखनलाल अभिनन्दनोत्सव' कर रहा था और दादाने कृपा कर उसमें आना स्वीकार कर लिया था।

भगवान्‌की कृपा भी जब बरसती है, तो सावनी समा होकर। श्री रामनारायण विजयवर्गीयको तार मिला कि दादा १९ की रातमें महूमें विश्राम करेंगे और २० को प्रातः इन्दौर जायेंगे। मैं भी महूमे ही था, तो यह सोनेमे सुगन्ध !

२० अक्तूबर १९५१ की प्रातः महूमें श्री वियोगी हरिका भाषण था, दादा वयस्कोंको मान-महिमा और छोटोंको प्यार-प्रतिष्ठा देनेमें सदा खुले हाथ रहे हैं, फिर वे वियोगी हरिजीके भाषणमें क्यों न आते ? वे आ बैठे गद्दीपर, तकियेके सहारे, तो महूके रामचन्द्र-भवनको एक ऐसा दृश्य देखनेका सौभाग्य मिला कि यहाँकी फ़ौजी धरती कृतार्थ हो गयी।

हमारे देशके हर नगरमे औसतन नौ संयोजक रहते हैं, पर महूके बैजनाथप्रसाद दुबे सचमुच संयोजक है। वे जानते हैं योजनाएँ कैसे

कार्यान्वित होती हैं। प्रातः सात बजे एक सफल उत्सवकी कल्पना आजकल वे ही कर सकते थे। इस योजनाका आरम्भ यों था कि नगरीका एक हरिजन राष्ट्रके यशस्वी हरिजन-सेवकको माला पहनाये। वह माला हाथों सवाँरे चला, तो उसने देखा कुरसीपर हैं एक श्याम और गद्दीपर एक गौर। लाख कहो, पर गौर तो गौर ही हैं। उस सरलने गौरको ही अपना आराध्य माना और वह पूज्य माखनलालजीकी ओर बढ़ा। उन्होंने उसे उँगलीके इशारेसे सवाँरा, "उधर।" वह गौरका इशारा पा, श्याम की ओर बढ़ा, पर श्यामने दोनों हाथोंका सहारा-सा दे, पुकारा, "हाँ हाँ ठीक हैं"। भोला हरिजन अब फिर गौरकी ओर, और बस यहीं वह दृश्य कि माखनलालजी उठकर खड़े हो गये और उन्होंने हरिजनके हाथोंसे अपने हाथ सटा, मालाको कुछ इस तरह छू लिया, जैसे एक पुराने चित्रमें राधा और कृष्ण एक ही बाँसुरीको साधे खड़े हैं। अब चार पैर, चार हाथ, दो मस्तक और दो हृदय एक ही माला लिये आगे बढ़े और यों वह माला, भाग्यशालिनी माला वियोगी हरिजीके गले पड़ी। जाने कौन-कौन धन्य हो गया, उस दृश्यको देखकर। वियोगी हरिजी बोलने लगे और दादा स्टेशन आ गये, पर हमारा भाग्य कि गाड़ी एक घण्टा लेट। उनके साथ थे प्रोफ़ेसर ब्रिल्लोरे और अध्यापक जगदीश गुरु। वे इन दोनोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे और दोनोंके गीत उन्होंने हमें सुनवाये। यहीं तो वे नयी पीढ़ीके दादा हैं। सम्मेलनकी स्थितिसे वे बहुत दुःखी थे, पर सारे हिन्दी संसारकी तरह विवश। मैंने सोचा – यह विवशता विद्रोहको कब जन्म देगी!

उसी शामको इन्दौरके विशाल गान्धी हॉलमें!

सात्त्विक-सजा मंच और जनतासे खचाखच भरा हॉल; स्त्रियाँ भी, पुरुष भी। यह महान् साहित्य-साधक पूज्य श्री माखनलालजीका अभिनन्दनोत्सव है, जहाँ मध्य भारतकी भावनाके प्रतिनिधि अपनी श्रद्धाके फूल

चढ़ानेको आ जुटे हैं। अभिनन्दनीयकी वन्दनीया बहन श्रीमती कमला बाई किबे सभापतिके स्थानपर और उत्सव आरम्भ।

कन्याओंके कमनीय स्वरोंमें विश्वका महान् राष्ट्रगीत वन्दे मातरम् गूँजा कि सब खड़े हो गये, इन सबके विचारोंमें विचित्रता है, स्वभावोंमें विविधता है, पर सब समान खड़े हैं, यही तो है हमारे राष्ट्रकी एकता जो हमने इतिहासमें पहली बार १५ अगस्त १९४७ को उपार्जित की – एक राष्ट्र, एक राष्ट्रपति, एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-विधान। कण जब अपनेको विराट्का भागीदार अनुभव करता है, तो गौरवकी दीप्तिसे उसकी प्रशस्त लघुता कैसी प्रचण्ड हो उठती है ?

गौर वर्ण, धवल वेष, उत्फुल्ल आँखें, प्रफुल्ल मुख-मुद्रा और उसपर लाल तिलक, जाने कब, किस दिन हमारे अतीतमें सौन्दर्य-शास्त्रकी इस अभिवृद्धिने जन्म लिया होगा। मालाएँ भी उनके गलेमें पड़ीं और उतरकर तकियेपर आ गयीं तो जैसे बिना कहे ही कविने कह दिया – तुम्हारे रक्तकी लालिमामें लसित भावना मुझे स्वीकार, पर उसका आवेग तुम्हें किसीके द्वार भिखारी बना दे, तो मुझे स्वीकार नहीं; भले ही वह किसी उपवनकी लता हो, या भवनकी लक्ष्मी ! इतनी सुन्दर मालाएँ मैंने जीवनमें बहुत कम देखी हैं, सचमुच इन्दौर समृद्धिका नगर है।

अभिनन्दन-पत्र पढ़ा गया और तब वे बैठे-बैठे ही बोले। क्या बोले ? प्रश्न उचित है, पर इसका समुचित उत्तर सम्भव नहीं। वे बोलने लगे, तो लगा कि भाषण आरम्भ हुआ है, पर कुछ ही क्षणोंमें सारा वातावरण एक ऐसे सन्नाटेमें डूब गया कि मैं उसमें खो गया। दादा वचन और प्रवचन, काव्य और श्राव्य दोनोंमें शैलीकार हैं। उनकी कविता, उनकी बातचीत, उनके लेख और उनका भाषण – सबपर उनकी शैलीका निरालापन छाया रहता है और गूँगेके गुड़की तरह हम स्वयं उसका रस ले तो पाते हैं, पर दूसरोंको दे नहीं पाते !

शायद मैं अपने मनोभावोंकी अभिव्यक्ति कुछ यों कहकर कर सकूँ कि

हम गंगामें स्नान करनेको उतरते हैं, तो हमपर श्रद्धाकी भावना कुछ इस तरह छा जाती है कि गंगाके प्रवाहकी राष्ट्रके लिए आर्थिक उपयोगिता और वातावरण एवं तरंगोंका सौन्दर्य हम देखकर भी नहीं देख पाते !

वे बोल रहे थे, तो हम भाव-गंगाकी इसी धारामें डूब-उतरा रहे थे। धाराके बहते ऐसे भी क्षण आते हैं, जब कोई जलचर अपना कर्कश चेहरा धारासे ऊपर उभार, प्रवाहकी तरलताको क्षण-भरके लिए भंग कर देता है। निश्चय ही इस दृश्यमें भी एक सौन्दर्य होता है।

ऐसे ही कुछ क्षण इस भाषण-प्रवाहमें भी तब आये, जब उन्होंने अपने पिछले जीवनकी एक खिड़कीको ज़रा यों ही खोलते हुए-से कहा, "जीवनमें एक दिन देउस्करजीने काशीके दशाश्वमेध घाटपर खड़े हो, मेरे हाथमें पिस्तौल देनेके बाद गीताकी पोथी भी थमा दी। विद्रोहीकी पिस्तौल काम करती है और कभी हाथ काँपते हैं, तो गीताका बल अपना काम करता है। दिल्ली दरबारके बम-काण्डके बाद इन्हीं हाथों कई काँपते तरुणोंको समाप्त किया गया। ऐसा न होता, तो उस काण्डका इतिहास कुछ और ही दिशा लेता !"

मैंने यह सुना, तो लगा कि हम माखनलालजीके साहित्यकी जिस विशालताका आज अभिनन्दन कर रहे हैं, वह तो उनके जीवनकी विराट्ता-की छाया ही है और क्या महान् लेखक माखनलालके जीवनकी यह विराट्ता अनलिखी ही रह जायेगी ?

पैंतालीस मिनिट वे बोले और तकियेसे आ लगे। कई बार देखा है कि उनकी वाणी अपनी ओरसे कभी नहीं बोलती। वे भाषण करें या कविता पढ़ें और या फिर किसी विचार-विमर्शमें ही सम्मति दें, उसे हृदयके निरन्तर निर्देशनमें चलना पड़ता है। यही कारण है कि उनके स्नायुजाल-पर सदैव ज़ोर पड़ता है, जिसे वे भले ही न कहें, सहते तो हैं ही ! और फिर हृदयकी यह सतत जागरूकता जीवनके हर व्यवहारमें हृदयका यह संगम ही तो माखनलाल है !

धन्यवादके साथ यह अनुष्ठान पूर्ण कि मालव साहित्यकार-संसद्के सभापति कवि डॉक्टर शिवमंगल सिंह 'सुमन' के अधिपतित्वमे कवि-सम्मेलन आरम्भ। बलिहारी 'सुमन' के शालीन-चातुर्यकी कि आरम्भमे ही पढ़ीं पूज्य माखनलालजीने अपनी दो कविताएं। ओह, उनकी 'माँ !' अजर भी और अमर भी, भावों और चावों-भरी महान् कृति ! सचमुच माखनलालजीका अपनी जगह कोई जोड़ नहीं और वे, वे – जिन्हें यह जा रहा युग नहीं, वह आ रहा युग ही ठीक-ठीक पहचानेगा।

कवि-सम्मेलनका वातावरण यों जमकर उतरा, सो बस उतरा और मैंने सीख लिया कि अनुष्ठान और तमाशा कभी एक साथ न हो, भजनोपदेशकोंको भीड़ जोड़नेका काम सौंप, आर्यसमाजके प्रवक्ता कहाँ पहुँचे ?

मेरा अभिनन्दन महान् माखनलालके श्रीचरणोंमे और मेरी बधाई उन भावुक तरुणोंको, जिनके माध्यमसे मध्य भारतने श्रद्धाके ये फूल चढ़ाये।

आपबीती या जगबीती ?

जी हाँ, दुनिया बदल रही है और हमारा देश भी दुनियामें है इसलिए वह भी बदल रहा है।

क्या कहा आपने ? क्या पूछा ? "क्या यह बदलना, बदलते रहना कुछ अच्छी बात है ?"

जी हाँ, बदलना, बदलते रहना अच्छी बात है, बहुत अच्छी बात है और अच्छी बात ही नहीं आवश्यक बात है !

"क्यों ?"

ओह, अभी आपके प्रश्न समाप्त नहीं हुए ? तो लीजिए यह उत्तर कि बदलना इसलिए आवश्यक है कि आप और मैं इस प्यारी दुनियामें रह सकें। और आप यहीं एक नयी क्यों – किस तरह न जड़ दें, इसलिए इतना और कि यह दुनिया न बदलती होती, पुराने लोग अपनी जगह ज्योंके-त्यों जमे रहते, तो मैं और आप कहाँ रहते ? हमारे लिए जगह कहाँ होती इस दुनियामें ?

इस बातको यों समझिए कि कली बदलती है फूलका जन्म होता है, फूल बदलता है फलका जन्म होता है, फल बदलता है बीजका जन्म होता है, बीज बदलता है वृक्षका जन्म होता है और उसपर फिर एक नयी कली फूटती है। तो है न यह अच्छी और आवश्यक बात कि दुनिया बदलती है।

और लो छोड़ो दुनियाकी बात, जगमें रहते हैं, तो जगबीती चलती ही रहती है, पर आज मैं आपको आपबीती सुनाऊँ कि इस बदलती दुनियामें मैं स्वयं कैसे बदलता रहा हूँ।

"ओह हो ! तो आप भी बदलते रहे हैं ? सच ? पर हमें तो आप बरसोंसे ज्योंके-त्यों दिखाई दे रहे हैं ?"

जी हाँ, बदलता रहा हूँ, पर बदलनेको आँकनेवाली आँख शायद आपके पास नहीं है। लीजिए, वह आँख मैं आपको देता हूँ कि आप आँक सकें कि मैं कब-कब और कितना-कितना बदला हूँ। तैयार हैं आप ?

"बिलकुल और बिला शक !"

तो फिर आप बातचीत आगे बढ़ानेसे पहले यह जान लीजिए कि 'मैं' का अर्थ है एक लेखक, कोई एक व्यक्ति नहीं और अब यह कि मैं एक लेखक हूँ। हज़ारों साल पहले मेरा जन्म हुआ था और लाखों साल मैं जीता-जागता रहूँगा। जी हाँ, जी हाँ, मैं लेखक हूँ और आज अपने जीवन-के एक अध्यायकी कहानी आपको सुना रहा हूँ– १९१९ से १९४६ तक-का अध्याय।

"मेरी गिरफ़्तारीपर कोई हड़ताल न हो, न हलके-फुलके प्रदर्शन हों और न जुलूस ही निकाले जायें। मैं जेलके सींखचोंके पीछे बैठा हुआ, ख़ुशीके साथ यह देखता रहूँ कि देशका काम पंजाब मेलकी रफ़्तारसे आगे बढ़ रहा है।"

ये थे गान्धीजीके बोल, जो उन्होंने अप्रैल १९१९ में कहे। सुना तो मैं पुलकित हो उठा और मुझे लगा कि मेरी नसोंमें एक नया ख़ून बह रहा है और उसमें एक नयी बात पैदा हो गयी है। मेरे ख़ूनमें एक नयी बात पैदा हुई थी तब, जब दादा भाई नौरोजीने नारा दिया था – भारत स्वराज्यके योग्य है। बात यह थी कि भारतको ग़ुलाम बनानेवाले अँगरेज़का ऐलान था कि भारत स्वतन्त्र होनेके योग्य नहीं है और धीरे-धीरे ज्यों ही वह योग्य होगा कि हम उसे स्वतन्त्रता दे देंगे। इस ऐलान-की करारी काट थी दादा भाईका नारा।

इस नारेने अँगरेज़के ऐलानको ही नहीं काटा, मेरी क़लमके सब बन्धन भी काट दिये और तब उसने इसे सत्यका स्वरूप देनेके लिए तथ्यों,

आँकड़ों, विवरणों, विश्लेषणों, दलीलों और अपीलोंके अम्बार लगा दिये। मैं इस अम्बारको और ऊँचा करनेमें जुटा ही हुआ था कि एक गम्भीर गर्जना कानोंमें पड़ी, "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है!"

यह लोकमान्य तिलककी आवाज़ थी। इस गर्जनाकी घोषणा थी कि स्वराज्य पानेके लिए योग्यता सिद्ध करनेकी आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि स्वराज्य योग्यताका पुरस्कार नहीं, हमारा मानवीय अधिकार है। तिलक महाराजकी यह घोषणा सुनकर मेरे ख़ूनमें फिर एक नयी बात पैदा हो गयी थी और मेरी क़लममें एक चमक आ गयी थी। इस चमकमें तथ्यों, आँकड़ोंकी जगह तेज़ी थी, बल था, प्रेरणा थी। कहूँ, ज्ञानकी जगह भावनाने ले ली थी। अब क़लमसे भावना बरसती और जन-मनमें उमड़ उठती, जोश लहरें लेने लगता। इस जोशमें तड़प थी ग़ुलामीके बन्धनोंकी, बेचैनी थी उन्हें तोड़ डालनेकी और इस तोड़नेमें अपनेको जुटा देनेकी और मिटा देनेकी भी!

मैं सब कुछ करनेको तैयार था, पर वह सब कुछ क्या है, यह न जानता था। मैं चलनेको तैयार था, अपनेमें चलनेकी ताक़त भी महसूस करता था, पर वह राह मेरे सामने न थी, जिसपर चलूँ। गान्धीजीके बोल कानोंमें पड़े, तो वह राह ही मेरे सामने खुल पड़ी। बात यह हुई थी, आपको याद ही होगा कि रौलेट एक्ट ग़ुलामीकी बेड़ियोंको और भी मज़बूत करनेवाला क़ानून था। गान्धीजीने इसका विरोध करनेके लिए ३० मार्च १९१९ को हड़ताल करने, जुलूस निकालने, जलसे करने और उपवास करनेका आदेश दिया था। बादमें यह तारीख़ बदलकर ६ अप्रैल कर दी गयी, पर ठीक सूचना न मिलनेके कारण दिल्लीमें ३० मार्चको ही हड़ताल हुई, जुलूस निकला और गोली चल गयी। बादमें लाहौर अमृतसरमें भी झपटें हुईं, तो गान्धीजीको दिल्ली बुलाया गया। तभी गान्धीजीने ये बोल कहे थे, जिन्हें सुनकर मेरे ख़ूनमें फिर एक लहर उठी थी और मेरी क़लममें एक नयी दमक पैदा हो गयी थी।

इस दमकमें एक आग थी, जो चाहती थी कि भले ही उसमें मैं भी जल जाऊँ, पर यह गुलामीका जंगल ज़रूर जल जाये। इस आगके कारण मेरे सिरपर डण्डे पड़े, हाथोंमें हथकड़ियाँ कसी गयीं, पैरोंमें बेड़ियाँ ठुकीं और बार-बार जेलके सींखचोंमें मुझे बन्द किया गया, पर मेरी क़लम चलती रही, अपना काम करती रही। उसकी दोनों जिह्वाएं एक हो, देश-के काममें जुटी रहीं। मेरी घोषणा थी :

"ज़ुबाँ को बन्द करें या मुझे असीर करें,
मेरे ख़याल को बेड़ी पिन्हाँ नहीं सकते !"

देशमें कहावतकी तरह यह बात प्रचलित थी कि अँगरेज़ोंका समर्थक कोई पत्र जीवित नहीं रह सकता और कोई पुस्तक लोकप्रिय नहीं हो सकती। क्यों ? क्योंकि मेरी क़लमकी दोनो जिह्वाएँ एक हो देशके साथ थीं। यों ही कई साल बीत गये।

ऐं ? यह कैसी आवाज है ? ओह, मालूम होता है कहीं ज्वालामुखी फट पड़ा है – खटाखट्ट, धड़ाम, हाय रे, मारो, बचाओ। कैसा शोर कि उसमें हुँकार भी है, चीत्कार भी है !!

जी, कहीं ज्वालामुखी नहीं फटा; यह तो कोहाट और सहारनपुरके साम्प्रदायिक दंगोंकी आवाज़ थी, जो बादमें चारों ओर फैल गयी। और ये दंगे ? ये विदेशी शासककी जादूगरीके चमत्कार थे, जो काँग्रेस और ख़िलाफ़तकी एकतासे घबरा गया था और अब योजनापूर्वक भेदकी डुगडुगी बजा रहा था ! यह डुगडुगी बहुत पुर-असर थी – प्रभावशाली थी – मसजिद और मन्दिर दोनों ही इससे गरम हो उठे थे। उन दिनोंकी हालत एक व्यंग्यचित्र – कार्टून – में दी गयी थी, जो इस तरह था कि भारत-माता बीचमें खड़ी है और उसके बाँयें हाथ एक मुसलमान और दायें हाथ एक हिन्दू खड़ा है। दोनोंकी आँखपर पट्टी बँधी है और दोनों लाठी चला रहे हैं। हिन्दू सोचता है, मैं मुसलमानको मार रहा हूँ और मुसलमान

सोचता है मैं हिन्दूको मार रहा हूँ, पर असलमें दोनोंकी लाठी पड़ती रहती है भारतमाताके भालपर, यानी सिर फूटता है भारतमाताका और यह सब उस जादूगरकी डुगडुगीका असर था।

एँ ? यह क्या ? मेरी क़लमकी दोनों जिह्वाओंके बीचमें एक खाली जगह हो गयी है, जिसने उन्हें अलग-अलग कर दिया है। एक दिन मैंने यह देखा, तो भौंचक रह गया। दोनों जिह्वाएँ ही अलग न हुई थीं, उनके शब्द और स्वर भी बदल गये थे और सच कहूँ आपसे, क़लम ही बदल गयी थी और इससे भी बड़ा सच यह कि मेरे फेफड़े अलग-अलग हो गये थे, मेरा हृदय बँट गया था और यह सब जादूगरकी उसी डुगडुगीका नतीजा था ! यों ही कई साल बीत गये। ज्वालामुखियाँ फटती रहीं, धड़ाके होते रहे, क़लमकी जिह्वाओंके बीचकी खाई चौड़ी होती रही।

ओह, क्या सुहावना मौसम है। नयी महक, नयी चहक, खुशबू और ख़ूबसूरती बरस पड़ी है। जानते हैं आप यह अचानक क्या बात हुई ? नहीं जानते ? यह हमारे राष्ट्रीय इतिहासके सर्वोत्तम वसन्तका उदय है। वह देखिए, गान्धीजी अपने चुने हुए साथियोंके साथ नमक सत्याग्रहके लिए डाण्डीकी ओर जा रहे हैं। देशमें चारों ओर एक नयी सिहरन है, नयी दिलचस्पी है, नयी उमंग है, नये इरादे हैं। मार्च-अप्रैल १९१९ लगता है मार्च-अप्रैल १९३० मे जाग उठा है। सब कुछ बदल रहा है और लीजिए, इधर भी तो देखिए, मेरी क़लमकी जिह्वाओंके बीचकी खाई एकदम कम हो गयी है और कमाल यह कि अपने-आप और ४ मार्च १९३१ को देश-के नेता गान्धीजी और अँगरेजी हुकूमतके प्रतिनिधि लॉर्ड इरविनमे समझौता हुआ, तो मुझे लगा कि मेरी क़लम फिर ज्योंकी-त्यों हो गयी, उसकी दोनों जिह्वाएँ मिलकर एक हो गयी हैं।

यह लो, सुना आपने ? जादूगरकी डुगडुगी फिर बज उठी और कमाल देखिए जादूगरका कि इस बार डुगडुगी भारतमें नहीं बजी, बजी इंगलैण्डमें;

जहाँ भारतके राजा-ज़मींदारों, रायबहादुर-ख़ानबहादुरों और दूसरे सरकार-परस्तोंके बीच गान्धीजी भी बैठे थे – गोलमेज़ कान्फ्रेन्समें, वाह रे जादूगर और वाह री डुगडुगी कि औरोंकी क्या बात, गान्धीजी भी चकरा गये थे – इस अर्थमें कि उसमें उलझनेसे देशके इन लोगोंको न बचा सके और लौट आये। इस दशामें मेरी क़लमकी भी दो जिह्वाओंके बीचकी खाई फिर चौड़ी हो गयी, तो क्या आश्चर्य ?

उतार-चढ़ाव आते रहे और यों ही बीत गये कई वर्ष। तब आया तूफान, संसारमें वेगसे, तो देशमें महावेगसे – एक तरफ़ दूसरा विश्वयुद्ध, तो दूसरी तरफ़ संसारके इतिहासकी सबसे बड़ी क्रान्ति – भारत छोड़ो ! दमनका चक्र इतना प्रचण्ड कि मेरे लिए क़लम हिलाना भी मुश्किल, पर मुश्किलोंमें भी जिसकी क़लम न चले, वह लेखक ही क्या ? क़लमकी दोनों जिह्वाओंके बीचकी खाई ज्योंकी-त्यों थी, पर एक जिह्वा कष्ट सहकर भी देशके साथ थी, तो दूसरी अपने साम्प्रदायिक रूपको भूल विदेशके साथ थी, पर तूफानके थमते ही १९४५-४६ में उसने जो ज़हर बरसाया, वह पुराने सब विषोंसे तेज़ था।

इस विषमें ऐसा दमघोंटू धुआँ था कि उसमें देशकी बात कौन सुने, देशको साँस लेना ही दूभर था। मदारीकी डुगडुगी अपने पूरे ज़ोरमें थी। उसका एक स्वर उठता कि हिंसा लहरा उठती, दूसरा स्वर उभरता कि प्रतिहिंसा।

अखण्ड जीवनकी प्यास देशमें थी, पर जीवनकी राह न थी, गान्धीजी अ-शर्त बलिदानकी जो बात कह रहे थे, उसे समर्थन देनेकी ताक़त मेरी क़लममें न थी। दोनो जिह्वाओंके बीचकी खाई बेहद चौड़ी हो गयी थी और ज़हरीली जीभ बेहद तेज़ीसे चारों ओर आग बरसा रही थी। इस आगमें सब कुछ जल जानेका ख़तरा पैदा हो गया था और देशका जागृत मस्तिष्क उस सब कुछमें-से बहुत कुछको बचानेकी बात सोचने लगा था। यह मेरी ही जीत थी, यह मेरी ही हार थी और इन दोनोंके बीच मैं ऐसा

उलझा था कि निकलना सम्भव न था और बदलती दुनियामें लेखकके जीवनका यह अध्याय एक ऐसे वातावरणमें समाप्त हो रहा था कि न रोना सम्भव था, न मुसकराना। कुछ हालत यों थी –

"अल्लाह रे, उसका हाले-ज़ब्तू अल्लाह रे, उसकी ख़ामोशी !
जो दिल में समन्दर रहता हो और आँख में आँसू ला न सके !!"

लाल क़िलेकी ऊँची दीवारसे

मसूरीमें आल इण्डिया रेडियोका उस दिन निमन्त्रण मिला, तो मैं दुविधामें पड़ गया। निमन्त्रण था १५ अगस्त १९५१ के स्वतन्त्रता-समारोहकी रनिङ् कॅमेण्ट्री – आँखों देखा हाल – प्रसारित करनेका।

१५ अगस्तको लाल क़िलेके सामने खड़े होना ही एक सौभाग्यकी बात है, फिर यह तो लाल क़िलेपर खड़े होनेका अधिकार-पत्र था, पर इधरके महीने रोगमें ही गये हैं और रनिङ्, कॅमेण्ट्रीके लिए जिस ताज़गीकी ज़रूरत है, वह मुझमें न थी।

श्रीमती विद्यावती कौशलने मेरे मर्मको एक टंकोर दी, "आपकी भावनाके अनुसार यह तो राष्ट्रका निमन्त्रण है!" – और मैंने उसे स्वीकार कर लिया। ठीक तो है कि यहाँ इनकारकी गुंजाइश ही कहाँ है?

हिन्दीमें रनिङ् कॅमेण्ट्रीका वास्तविक विकास इन्हीं वर्षोंमें आरम्भ हुआ है। उत्सवोंका 'रिपोर्टिङ्' हमारे दैनिकोंमें रोज़की बात है और बादमें प्रकाशित होनेवाले उनके संस्मरण भी अब दुर्लभ नहीं, पर रनिङ् कॅमेण्ट्री तो क़लम नहीं, वाणीका रिपोर्टिङ् है। इसका उद्देश्य है: दूर-दूर फैले श्रोताजनोंको घर बैठे ही उत्सवका आनन्द देना। सच यह है कि जनताके मानसिक भोजनमें रेडियोने ध्वनि-रूपक और आँखों देखा हाल, इन दो नये व्यंजनोंकी सृष्टि की है, जो स्वाद तो हैं ही, स्वास्थ्यवर्धक भी हैं।

१५ अगस्त १९५१; भारतीय स्वतन्त्रताकी पाँचवीं जन्मतिथि। प्रातः सात बजे, मैं दिल्लीके लाल क़िलेकी ऊँची दीवारपर खड़ा था। ऐसे स्थानपर पहुँच भावुक मन भावनाओंसे भर जाता है। लाल क़िलेकी उम्र इतनी

नहीं है, पर यह अपनेमें एक हज़ार वर्षोंका इतिहास समेटे खड़ा है। क्या नहीं देखा बेचारेने !

मुझे लगा कि मेरी ही तरह यह लाल क़िला भी आज कुछ सोच रहा है। सहानुभूतिसे मैंने कहा, "क्या सोच रहे हो दुर्गसम्राट् ?"

"सोचूँ क्या, खयालातकी भीड़में खुद खो-सा रहा हूँ भाई ?" लाल क़िलेने कहा।

"हाँ, अपने पुराने वैभवको याद कर रहे होगे तुम !" मैंने उसे टटोलनेको उसका मर्म छू दिया।

"ना, ना, तुम ग़लत समझे भाई ! यह ठीक है कि मैंने वैभवके दिन देखे हैं। किसी दिन मैं क़ीमती रत्नोंसे लक़दक़ था और आज कोरा पत्थर हूँ, पर उस वैभवके पीछे इतना नृशंस रक्तपात था कि वह वैभव मुझे बोझ हो गया था। उसके बाद जो दिन आये, उनकी चर्चा ही फ़िज़ूल है। अपने निर्माताओंका नाश ही मैंने नहीं देखा, अपना सर्वनाश भी मैंने देखा, पर ज़िन्दगीमें अब कुछ दिनोंसे मैं अमन-चैनकी साँस ले रहा हूँ।"

"क्या नयी बात है आजकल ?" मैंने उसे फिर खरादपर चढ़ाया, तो वह बोला, "मैं मनुष्योंका निर्माण हूँ और सदा मनुष्योंके ही साथ रहा हूँ, पर मैंने सदा मनुष्यको मनुष्यका खून पीनेकी तैयारी करते ही देखा है। मेरे द्वारसे सदा जो आदेश दिये गये हैं, उनका सार है : "मारो, काटो और मिटा दो !" इन आदेशोंको सुनते-सुनते मैंने मान लिया था कि इनसान भी एक जंगली खूनी जानवर ही है, पर इधर कुछ दिनसे मेरे दरवाज़ेपर एक नया झण्डा लगा है। उसमें केशरिया, सफ़ेद और हरी, ये तीन पट्टियाँ हैं और बीचकी पट्टीपर एक चक्रका निशान है।

इस झण्डेकी छायामें अब जो नये सन्देश और आदेश दिये जाते हैं, उनमें प्यार, मुहब्बत और नयी रचनाओंकी बातें होती हैं। कहनेका ढंग भी हुंकार और खा-फाड़का नहीं, आ-बैठका होता है। यह सब सुनकर मैं सोचता हूँ कि एक नयी दुनियामें पहुँच गया हूँ और अब इनसान भी जंगल-

की झड़ियोंसे निकल अपने घर आ गया है। मुझे लगता है, इनसानियतने अब नयी ज़िन्दगी पायी है।"

"कहिए, सब ठीक है ?"

लाल क़िलेकी बात पूरी हुई ही थी कि ये बोल मेरे कानोंमें पड़े। आल इण्डिया रेडियो, नयी दिल्लीके स्टेशन डायरेक्टर (बादमें डायरेक्टर जनरल) श्री बलवन्त भट्ट मेरे बूथके सामने खड़े थे। कुछ लोग होते हैं, जिनसे मिलकर प्रसन्नता होती है, कुछ लोग हैं जिनसे विचार-विमर्श करके सन्तोष मिलता है, पर श्री भट्टका व्यक्तित्व इतना सरस, संयत और समर्थ है कि उन्हें समीप पाकर एक ऐसी सन्तुष्ट प्रसन्नता मिलती है कि सहृदय मनुष्य सब कुछ पाया-सा अनुभव करता है।

भट्टजीकी व्यवस्था-नीति संक्षेपमे यह है कि वे जिसे जो काम सौंपते हैं, उसका पूरा विश्वास करते हैं, पर अपनी सतर्कताको पल-भरके लिए भी सोने नहीं देते !

पूछ-कह वे दूसरी ओर बढ़े तो मैंने बूथकी खिड़कियोंसे बाहर झाँका। आठ बज रहे थे और कॅमेण्ट्रीका आरम्भ ८-२० से होना था। लाल क़िलेके सामनेवाले मैदानमे नीचे दर्शक आ रहे थे, पर कुरसियाँ और लॉन अभी खाली ही थे। मनमे एक धक्का-सा लगा – क्या जनतामें स्वतन्त्रता-समारोहके लिए इतना भी उत्साह नहीं है ?

प्रोग्राममे ८-१६ पर अपना स्थान ले लेनेकी सूचना थी, पर ८ तो अब बज ही रहे थे। कॅमेण्ट्रीका आरम्भ मेरे साथी श्री देवकीनन्दन पाण्डेको करना था, इसलिए मैं बूथसे बाहर आ गया। लाल क़िलेके द्वारपर एक सबल स्तम्भके ऊपर राष्ट्रीय झण्डा बँधा था। उसके दायीं ओर विदेशी राजदूतोंके लिए स्थान था और बायीं ओर हमारे मन्त्रियों एवं दूसरे प्रमुख अतिथियोंके लिए।

दूसरे घेरेमें पास-पास दो सुन्दर स्त्रियाँ बैठी थीं। मैं उन्हें देख

आनन्द-विभोर हो गया। एक थीं श्रीमती कृष्णा हाथी सिंह और दूसरी सुश्री पद्मजा नायडू। पहली अपने महान् पिताका एक संस्मरण, तो दूसरी अपनी महीयसी माताका। स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल नेहरू और श्रीमती सरोजिनी नायडू हमारे राष्ट्रके गौरव-स्तम्भ ही तो हैं!

अगली पंक्तिमें ये लव-कुश-से दो बालक कौन हैं? ये हैं पण्डित जवाहरलाल नेहरूके धेवते, जो राष्ट्रकी ज़िम्मेदारियोंके बोझसे दबे अपने महान् नानाको कुछ पलोंके लिए अपनेमें उलझा, प्रतिदिन देशकी मूक सेवा करते रहते हैं।

और ये राजदूत! गत चार वर्षोंमें भारतने जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की है, उसके जीवित प्रमाणपत्र-से और इन्हींके बीच सुरक्षा-परिषद्के निर्वाचित, पर भारत-द्वारा अमान्य कश्मीर-निर्णयके प्रतिनिधि श्री ग्राहम; शालीनताके बुरकेमें छिपी धूर्तताके अग्रदूत, ऊपरसे प्रसन्न, पर नेहरू और शेखके अकम्प निर्णयोंसे भीतर-ही-भीतर प्रकम्पमान!

और इन सबके बीच स्थिर तिरंगा झण्डा; मैं सम्मानकी भावनामें भींगा-भींगा-सा उसे देख रहा हूँ और मुझे लगता है वह भी मुझे देख रहा है। भाव-विभोर हो मैंने कहा, "क्या सोच रहे हो हमारे महान् राष्ट्रध्वज?"

अपनी इन्द्रधनुषी मुसकानमें उसने कहा, "विश्वमें दूर-दूर फैले भारतके राजदूत-भवनोंपर लगे उन तिरंगोंको देख रहा हूँ, जो मेरे साथ ही फहरानेवाले हैं और सोच रहा हूँ कि यदि उन सबका एक मानचित्र बनाया जाये, तो वह पारिभाषिक रूपमे ही नहीं, यथार्थमें भारतकी आत्माका अद्भुत मान-चित्र होगा।

बैण्डकी मधुर ध्वनि कानोंमे पड़ी, तो मैं भावनाके उपवनसे यथार्थके चौराहेपर आ टिका। ओह! इन्हीं कुछ मिनिटोंमें सारा दृश्य बदल गया था।

सिंहद्वारके सामने जल, स्थल और नभसेनाकी टुकड़ियोंके साथ पुलिसकी भी एक टुकड़ी अपना स्थान लिये सावधान खड़ी थी। उनके पीछे-के चार लॉन राष्ट्रके नर-नारियोंसे भरे थे। उनके पास पाँच भागों-में बट-बिछी कुरसियोंपर पार्लामेण्टके सदस्य, सैनिक अधिकारी, राज-कर्मचारी और प्रमुख कांग्रेसजन विराजमान थे। कुरसियोंके पीछेका बड़ा लॉन भी जनतासे भरा था। कुरसियोंके पासका बड़ा लॉन स्त्रियोंके लिए सुरक्षित था, पर उसमें भी स्थान खाली देख पुरुष घुस आये थे। इसके पासके बड़े-बड़े लॉन भी खचाखच जनतासे भरे थे। इस विशाल महा-प्रांगणके अतिरिक्त आस-पासके सब मकान, छज्जे, छतें और वृक्ष भी मनुष्योंसे भरे हुए थे।

मैंने पिछले किसी स्वतन्त्रता-समारोहमें इतनी भीड़ नहीं देखी थी! हमारे देशमें भीड़का साथी है – भम्भड़, पर आजकी भीड़, अपने पुराने साथी भम्भड़को कहीं राहमें ही छोड़ आयी थी। सब अपने-अपने स्थान-पर घुचे-मिचे बैठे थे, पर हल्ला था, न धक्कम-धक्का।

हम इस शान्ति और स्वेच्छा-व्यवस्थाका पूरा मूल्यांकन नहीं कर सकते, यदि यह न जान लें कि १४ अगस्तको जमकर पानी पड़ चुका था। इस समय आकाश खुला था, कड़ी धूप और घोर ऊमससे वातावरण इतना गरम था कि लोग पिघले जा रहे थे। झण्डोंकी बन्दनवारें लटकी हुई थीं, पर हवाका कहीं नाम न था और किसी झण्डेका कोना तक न हिल रहा था। वृक्ष कुछ ऐसे खड़े थे कि वे जैसे वृक्षोंके स्टैच्यू हों।

यह स्तब्ध जन-सागर अचानक क्यों लहरा उठा? ये दस-बारह लाख आँखें, एक आँखकी तरह किसे ताक रही हैं? शान्त बैठे नर-नारी उचक क्यों चले? और यह सारा आकाश तालियोंकी गड़गड़ाहटसे गूँज क्यों उठा?

वे चले आ रहे हैं भारतके राष्ट्रीय कर्णधार पण्डित जवाहरलाल नेहरू – हमारे सितारे भी, सहारे भी! उनके साथ रक्षामन्त्री श्री सरदार बल-

देव सिंह और पीछे जल, स्थल, नभसेनाओंके प्रधान सेनापति और दो अंग-रक्षक !

वे सैनिक टुकड़ियोंके सामने बने लाल मंचपर आ खड़े हुए। यह साढ़े आठ बजे हैं। सैनिकोंने उनका सम्मिलित अभिनन्दन किया कि बैण्डके जड़ कण्ठमें 'जन-मन-गण' के जीवित स्वर फूट पड़े और मैं देख रहा हूँ कि वे लाखों नर-नारी एक झटकेके साथ खड़े हो गये हैं। सधे स्वर उभर रहे हैं और प्रधान मन्त्री उस अभिनन्दनको अपने प्रतिवन्दनसे ग्रहण कर रहे हैं।

यह क्षात्र तेजका ब्रह्मतेजके प्रति आत्मसमर्पण है या आजकी भाषा-में राष्ट्रकी देहशक्ति-द्वारा नैतिक शक्तिका अभिनन्दन !

मैं अब 'बूथ' मे हूँ और माइक मेरे सामने है। तीन ओरके शीशोंसे सारा मैदान मुझे साफ़ दिखाई दे रहा है।

परेड तैयार है, प्रधान मन्त्री उसका निरीक्षण कर रहे हैं। मेरी आँखों-में दर्शन है, मानसमे चिन्तन : इन दोनोंको भाषामें समेटकर मैंने अपनी कॅमेण्ट्रीमें कहा, "एक अद्भुत दृश्य है यहाँ इस समय। इस दृश्यमें एक ओर हैं हमारे प्रधान मन्त्री – १८५७ से १९४७ तकके वर्चस्वी अतीतमें स्वतन्त्रताकी स्थापनाके लिए किये गये महान् बलिदानोंके प्रतिनिधि और दूसरी ओर हैं हमारे सैनिक – १९४७ से आरम्भ कर जाने कबतक फैले भविष्यमे उस स्थापित स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए होनेवाले बलिदानोंके प्रतिनिधि। इस तरह यह अतीतसे भविष्य तककी एक ऐसी सजीव शृंखला जिसे आँखों देखना और कानों सुनना स्वयं अपनेमे जीवनका एक पवित्र त्यौहार है !"

परेडका निरीक्षण कर प्रधान मन्त्री लाल क़िलेके द्वारपर चढ़ आये, जैसे अतीतकी सीढ़ियोसे चढ़कर वर्त्तमान ऊपर आ जाता है।

प्यार और मानकी आँखोसे प्रधान मन्त्रीने एक बार झण्डेकी ओर देखा और उसे फहरा दिया। तभी एक दैवी घटना हुई कि एकदम हवा

सरसरा उठी और झण्डा फहराने लगा। मुझे पिछले सालकी वह घटना याद हो आयी कि अपने भाषणमें प्रधानमन्त्रीने ज्यों ही शरणार्थी बन्धुओंके दुःखोंका वर्णन किया, बहती हवा एकदम रुक गयी थी और लहराता झण्डा लटककर दुखिया-सा अपनी बल्लीको लिपट गया था।

तभी प्रधान मन्त्री नयी दिशामें आये, "पर इन दुःखोंका यह मतलब नहीं कि हम इनसे हार मान लें! नहीं, हम इनसे लड़ेंगे और इन्हें खत्म करके ही चैन लेंगे!"

बस फिर क्या था, प्रधान मन्त्रीका उत्साह जैसे सारी प्रकृतिमें भर गया, हवा पूरी तेज़ीसे बह चली और झण्डा बल्लीसे उतर अपने-आप पूरे वेगमें फहरा उठा था।

प्रकृतिका यह प्रत्यक्ष सन्देश देश-विदेशमें दूर-दूर बैठे रेडियो-श्रोताओं-को भेज मेरी कॅमेण्ट्री धन्य हो गयी।

अब फिर एक अद्‌भुत दृश्य है। ऊपर झण्डा फहरा रहा है। लाल क़िलेकी लालिमा सारे वातावरणमे छायी हुई है और उसके द्वारपर खड़े हैं धवल वेषधारी, गौरवर्ण श्री जवाहरलाल नेहरू; जैसे ख़ूनी दुनियामें फहराती शान्तिपताका!

हमारे प्रधान मन्त्री तन, मन और वेष; तीनोंमें धवल, पर उनके हृदय-देशपर लगी गुलाबकी कली लाल; जैसे सोते सिंहको आँखोंमे हुंकारका एक डोरा!

यह दृश्य भी रेडियोके माध्यमसे देशकी जनताको भेंट कर दिया गया। प्रधान मन्त्री तैंतीस मिनिट बोले। यह हिटलर-स्तालिनका नहीं, राजर्षि जनकका भाषण था। मुक्केके जवाबमे दोस्तोका हाथ बढ़ानेके लिए जिस महान् मानसिक सन्तुलनकी आवश्यकता होती है, उसका यह भाषण सम्पूर्ण प्रतिनिधि था! मेरा विश्वास है कि इस भाषणका अभि-नन्दन हमारा भावी इतिहास करेगा।

हम इसका पूरा मूल्यांकन कर ही नहीं सकते, यदि यह न जान लें कि इस सन्तुलनको ख़राब करनेके लिए पाकिस्तानका प्रधान मन्त्री १४ अगस्त-को डेढ़ घण्टे तक अपने रेडियोपर पागल कुत्तेकी तरह भौंका था ! मैंने सोचा, राजनीतिज्ञ जवाहरलालके भीतर पिछले वर्षोंमें जो सन्त निरन्तर पनपता रहा है, वही आज बोल रहा है !

अब मेरे पास केवल दो मिनिट थे। पिछले चार वर्षोंका मानसिक अध्ययन थोड़े शब्दोंमे उँड़ेलकर मैंने अपनी कॅमेण्ट्री यों समाप्त की :

"पहली बार जब हम यहाँ स्वतन्त्रता-समारोह मनानेको इकट्ठे हुए थे, लोगोंकी आँखोंमे गहरी उदासी छायी हुई थी, दूसरी बार उन आँखोंमे गहरी बेचैनी थी, तीसरी बार अनन्त प्रश्न थे और चौथी बार सान्त्वना थी, पर इस बार अखण्ड विश्वास है।

आज इस महापर्वके वातावरणमे जीवनके जो स्वर गूँज रहे हैं, उन्हें हम शब्दोंमें कहना चाहें, तो यों कह सकेंगे :

"महत् देश की पुण्य पताका !
हम सब तुमको अपनायेंगे, तजकर सुख वसुधा का !!
जिसने तुझको एक बार भी दुष्ट दृष्टि से ताका !
हम उसका सुख भस्म करेंगे, बनकर दीप-शलाका !!"

जवाहरलालजी आज शरीरसे ढीले थे – उनका सदाका चुस्त अचकन ढीला हो रहा था। देखकर चोट लगी कि कामके बोझों और मनकी चोटों-से हम उन्हें थकाये दे रहे हैं।

वे राजदूतोंसे मिले और भीड़की ओर भाव-भरी आँखोंसे देखते रहे। अचानक वे झपटेसे चल पड़े और तेज़ीसे सीढ़ियाँ लाँघकर बच्चोंकी तरह काफ़ी ऊँचाईसे कूद पड़े। रक्षामन्त्री इस तेज़ीमे पिछड़ गये और तब उन्हें भी दूसरी ओरसे रस्सीके सहारे उचककर उन तक पहुँचना पड़ा। पण्डित

नेहरू इस उचकपर खिलखिलाकर हँस पड़े और यों आजका गम्भीर स्वतन्त्रता-समारोह हासकी सरसतामें स्नान कर पूर्ण हुआ।

मैंने अपनेसे कहा, देश निश्चित रूपसे आगे बढ़ रहा है और उसका भविष्य उज्ज्वल है!

ऊपरकी बर्थपर

दिल्लीसे इलाहाबाद तकका सफ़र, हवासे बातें करती तूफ़ान मेल, बाहर अँधेरी रात और भीतर बिजली घुप्प ! मैं सेकेण्ड क्लासमे ऊपरकी बर्थपर, मेरे सामनेकी बर्थपर सामान और नीचे दो बर्थोंपर दो छैल-छबीले तरुण। उनकी निगाहमें मैं सो गया हूँ, पर मैं हूँ कि जाग रहा हूँ। वे दोनों रस-भरी बातोंमे निमग्न; जिनमें कभी मेरा ध्यान चला जाता है और कभी उखड़ जाता है। सहसा बात एक खास मसलेपर आ टिकी और मेरी पत्रकार-कला जागकर सतर्क हो उठी।

"रमेश ! चमेली पहले तो बड़ी भगतनी बनती थी, पर अब तो एक-दम परी बनी फिरती है। अब भी वह 'पूजा-बरत' कुछ करती है या नहीं ?"

उत्तर मिला, "पूजा तो अब भी करती है, मगर ठाकुरजीकी नहीं, ईजानिबकी। सच यह है शर्मा ! बड़ी ग़ज़बकी औरत है।"

"रमेश ! तू भी है क़िस्मतका सिकन्दर; खूब काँटा डाला है यार तूने !"

"काँटा-वाँटा क्या, बस तीर बैठ ही गया ? पूरा एक साल लगा मेरा। बात यह है, जबसे चमेली विधवा हुई, एक समय यह खाना खाती और दिन-रात राधे-गोविन्दमे लीन रहा करती थी। सच कहता हूँ शर्मा ! इसे रास्तेपर लाना मेरा ही काम था !"

ऊपरकी बर्थपर मन-ही-मन मैंने कहा, खूब रास्तेपर लाये हैं आप उसे पर मैं साँस रोके सुनता रहा; क्योंकि मैं चाहता था कि इनके रास्तेपर लानेका उपाय भी सुन सकूँ, तो ठीक रहे। मेरे भाग्यसे शर्माके लिए भी

यह जानना अभी शेष था। तभी उसने पूछा, "आख़िर तूने ऐसा क्या मन्त्र मारा कि तू ही उसका राधे-गोविन्द हो गया ?"

रमेश अब खुल पड़ा। बोला, "शर्मा, छह महीने तो मैं उसके पीछे यों ही लगा रहा, पर उसकी ज़िन्दगीमें कहीं हाथ रखनेको जगह ही न मिली। कई बार इशारे दिये, चटखारे भरे, पर उसके लिए जैसे उनका कोई मतलब ही न था। मैं मस्तीमें भरा उसके घर जाता और निराशामें डूबा लौटता। एक दिन अचानक उम्मीदकी किरन फूट पड़ी। चमेलीने शामको चैतन्य महाप्रभुका जीवन-चरित्र पढ़ना शुरू किया कि उसकी आँखें दुखनी आ गयीं। उसने मुझसे कहा कि थोड़ी देर उसकी पुस्तक मैं सुना दिया करूँ। मैं सुनाने लगा। पहले ही दिन एक बात मैंने देखी कि चमेली बड़ी भावुक है और कथामें आये प्रसंग उसके मनपर अपने रसके अनुसार प्रभाव डालते हैं। बस कुंजी मेरे हाथ लग गयी।

मेरे पढ़नेका ढंग इतना अच्छा था कि आँखें ठीक होनेपर भी वह चलता ही रहा और मैं धीरे-धीरे उसे कथासे कहानीपर ले आया। पहले तो मैंने उसे छाँट-छाँटकर शिक्षाप्रद कहानियाँ ही सुनायीं और तब उसे धीरेसे एक पैड़ी और उतारकर प्रेमकी कहानियोंपर ले आया। मैं बराबर भाँपता रहता था कि कहानियोंमें जब उत्तेजक प्रसंग आते थे, तो चमेली विह्वल हो जाती थी।

अब मेरी सफलता निश्चित थी और मैं सिर्फ़ मौक़ेकी तलाशमें था। एक दिन मैं उसे ग़ज़बकी कहानी सुना रहा था। उसमे ज्यों ही यह प्रसंग आया कि प्रेमिका प्रेमीको गोदमें लुढ़क गयी, क़िस्मतकी बात बिजली बुझ गयी। मौक़ेको चूकना बेवक़ूफ़ी है। मैंने फ़ौरन हाथ बढ़ाया और शर्मा, सच कहता हूँ स्वर्ग मेरी मुट्ठीमे था। मैं चमेलीकी भावुकताको जानता था, इसलिए पहले ही झटकेमे मैंने उसे वहाँतक पहुँचा दिया, जहाँसे लौटना औरतके लिए मुमकिन नहीं है।"

शर्मा जैसे उछल पड़ा, "शाबाश ! पत्थरपर जोंक लगा दी है यार तूने ?"

रमेशने कहा, "शर्मा, इस मामलेमें कहानीसे बढ़कर कोई हथियार ईजाद ही नहीं हुआ ! ये कहानी लिखनेवाले कम्बख्त ऐसी तसवीरें खींचते हैं कि पढ़कर कलेजा बे-क़ाबू हो जाता है। मैं तो दोस्त, अब उन्हें अपना पीर मानने लगा हूँ।"

हमारे लेखक और सम्पादक मिलकर हमारी तरुण पीढ़ीकी जड़ोंमें जो मट्ठा सींच रहे हैं, उसका तीखापन मैंने आज अनुभव किया। ये जो बुक्स्टालोंपर रंगीन और नंगे सौन्दर्यके पत्र बिखरे पड़े हैं और जो आज हमारे नवयुवकों और नवयुवतियोंके जीवन-प्राण बने हुए हैं; असलमें साहित्य न होकर साहित्य-सर्प हैं, यह आज जितना साफ़ मैं देख पाया, उतना साफ़ पहले कभी न देख पाया था।

पल-भरमें मैं यह सब सोच गया और अपने विचारोंमें दूर तक बहने-को ही था कि मेरे कानोंमें शर्माकी आवाज़ पड़ी, "रमेश, कहानी काम-की चीज़ है, यह तो तुम्हारे तजर्बेसे ही ज़ाहिर है, पर यार, यह ग़लत है कि कहानीसे बढ़कर कोई काँटा ईजाद ही नहीं हुआ !"

"तुम्हारा मतलब शायद रुपयेसे है, पर शर्मा, हिन्दुस्तानमें अब भी लाखों औरतें ऐसी हैं, जो ज़िन्दगी-भर सोनेकी बारिश करनेपर भी चरखेपर नहीं चढ़तीं।" यह रमेशकी बोली थी।

"रुपयेपर लानत भेजो जी ! मेरा मतलब सिनेमासे है। मेरा दस सालका तजर्बा है रमेश, कि सिनेमासे 'इज़ी एप्रोच' और कुछ नहीं है। दस दिन देखाभाली और ग्यारहवें दिन सिनेमा – बस चट रोटी, पट दाल ! अचूक नुसखा है रमेश !"

रमेशकी आवाज़ नहीं निकली। वह या तो झपकी ले रहा था और या फिर कुछ सोच रहा था। तब शर्माने पूरी दृढ़तासे कहा, "तुम्हें मेरी

बातका यक़ीन नहीं आया रमेश ? मैं सच कहता हूँ सिनेमा वह देवता है, जो कभी वरदान देनेमें नहीं चूकता। लो आओ, तुम्हें इसकी गहराईमें उतारूँ और गहराई क्या है, तुरुपका खुला पत्ता है। सिनेमामें और है ही क्या, सिवाय उसके जो हमारे दिलमें चल रहा होता है। परदेकी तसवीरें बताती हैं कि शुरूमें यों चलता है और बादमें उसका अन्त यह होता है। बस, रास्ता साफ़ हो जाता है और झिझक खुल जाती है और एक ही झटकेमें गाड़ी गंगाके पार! यह दवा इतनी रामबाण है रमेश, कि मैं सिनेमाहॉलसे एक बार भी मायूस होकर नहीं लौटा!"

रमेश अब भी चुप था। वह शायद सो गया था। शर्माके करवट लेनेकी मसममाहट मैंने सुनी और तब यह आवाज़—"हे मेरे अल्लाह, अब कोई नयी मुर्ग़ी मिला।" यही शायद उसकी ईश्वर-प्रार्थना थी।

नीचेकी बर्थोंपर वे दोनों सो रहे थे और ऊपर मैं सोच रहा था कि जो सिनेमा दूसरे देशोंमें जीवन-निर्माणका एक मज़बूत साधन है वही हमारे यहाँ जीवनके मन्दिरोंपर विस्फोट बनकर गिर रहा है।

आज भी जब उस रातका ध्यान करता हूँ, तो मेरी आँखोंमें आ जाते हैं, वे कुछ घण्टोंके साथी—रमेश और शर्मा; दोनों एक-दूसरेसे बढ़कर हरामज़ादे! फिर भी मुझपर उनका ऋण है और मानता हूँ कि मैंने उनसे दो क़ीमती सबक़ लिये!

लाल मन्दिरकी छायामें

बीसवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध जिन दिनों बीत रहा था भारतकी राजधानीमें मैंने एक दृश्य देखा और वह दृश्य मेरे लिए एक प्रश्न-चिह्न बन गया। काग़ज़पर बने प्रश्न-चिह्नोंकी उपेक्षा करना सरल है, पर जो प्रश्न-चिह्न काग़ज़पर नहीं, कलेजेपर लिखे जाते हैं, वे रात और दिन पुकार-पुकारकर अपना समाधान माँगते रहते हैं। यह माँग इतनी प्रबल और प्रचण्ड होती है कि उसे सुनना ही पड़ता है। भारतकी राजधानीमें बना यह प्रश्न-चिह्न भी काग़ज़पर नहीं, कलेजेपर है और मैं विवश हूँ कि उसका समाधान खोजूँ। यह खोज; जो मुझे पूरी तृप्ति दे और दूसरोंको भी शायद विचारका निमन्त्रण!

"साहू श्रेयान्सप्रसादजीके सभापतित्वमें अखिल भारतीय दिगम्बर जैन-परिषद्का वार्षिक अधिवेशन दिल्लीमें हो रहा है।" यह समाचार पढ़ा, तो मुझे एक ताज़गी-सी मिली और बाक़ायदा निमन्त्रण आनेसे पहले ही मैंने उसमें जानेकी मन्त्रणा अपने मनमें कर ली! श्रेयान्सप्रसादजी इस सूखे और सौदेबाज़ीके युगमें भी इतने सहृदय हैं कि उनका साथ एक सुन्दर देशकी यात्राकी तरह सुखद है। साहू शान्तिप्रसादजीकी मनुष्यताके तो मैं इतने रूपोंमें स्पर्श पा चुका हूँ कि उनकी याद आते ही मैं भीतर तक मीठा-मीठा हो जाता हूँ। अयोध्याप्रसादजी गोयलीयकी वाणीका निर्माण काँटेकी अगली नोंकसे हुआ है तो हृदयका धानकी पहली कोंपलसे। व्यवस्था और शिष्टाचारके आचार्य श्री राजेन्द्रकुमार जैन, उद्योगमूर्ति श्री तनसुखरायजी और यह, वह, वे; ये सब साथ मिलेंगे वहाँ!

ठीक है, पुराने और सहृदय-विचार-बन्धुओंका मिलन जीवनका बड़ा

सुख है, पर क्या परिषद्में जानेका आकर्षण मेरे लिए इतना ही है कि वहाँ कुछ मित्रोंसे मिलनेका अवसर मिलेगा ? मैं भला कैसे इसपर हाँ कह सकता हूँ ?

परिषद्के प्रति मेरे आकर्षणकी नींव बहुत गहरी है। मैंने अपने देशके इतिहासको एक नये ढंगपर पढ़ा है। पढा तो वैसे ही है, पर उसकी व्याख्या मेरे मनमे एक नये रूपमे प्रस्फुटित हुई है। मुझे लगता है कि आर्य और अनार्य जातियोंकी संस्कृतिका जो संघर्ष वेद-कालसे भी पहले-से चल रहा था, उसमें आर्य जातिकी अन्तिम विजयका श्रेय रामको मिला और उसने ही इस देशमें समाज-व्यवस्थाकी पहली बार पूर्ण स्थापना की। यों समझिए कि इस समाज-व्यवस्थाके शास्त्रीय निर्माता थे मनु और सामाजिक निर्माता राम; बिलकुल उसी तरह, जैसे समाजवादी समाज-व्यवस्थाके शास्त्रीय निर्माता थे मार्क्स और सामाजिक निर्माता लेनिन ! इस समाज-व्यवस्थामे हमारे देशका पूर्ण विकास हुआ और वह विश्वका सिरमौर बन गया। जाने कितने वर्षों तक यह व्यवस्था यों ही चलती रही, पर जिस दिन तप-तेज-हीन ब्राह्मणने भी अपनेको पूजाका अधिकारी, रक्षक शक्तिहीन क्षत्रियने भी अपनेको अधिकारका पात्र, कृषि-वाणिज्य-शक्तिहीन वैश्यने भी अपनेको अर्थपति होनेके लिए प्रमाणित और इन तीनोंने सेवा-शक्ति-सम्पन्न कर्मकारको एक सहयोगीके स्थानमे अधिकारहीन वर्ग माननेकी घोषणा की, उसी दिन यह समाज-व्यवस्था खण्डित हो गयी।

यह समाज-व्यवस्था खण्डित हो गयी, पर उखड़ी नहीं – उसमें जीवनके कुछ ऐसे ही संजीवन गुण थे – हाँ उसकी दरारोंमें जहाँ जीवन-जलका प्रवाह रुक गया था, दुर्गन्ध बढ़ती रही। इसी दुर्गन्धका फल वह महामारी थी, जिसे हम महाभारत कहते है। कृष्णने इस बिखरनको अपने कार्यकी शक्तिसे नहीं, अपने व्यक्तित्वकी महाशक्तिसे एक बार समेट दिया। इस समेटसे जीवनकी नयी कोंपलें नहीं फूटीं, हाँ, पुराने पत्तोंका झड़ना धीमा पड़ गया; पर यह कोई स्थायी काम तो न था ! फिर

भी कोई ढाई हजार वर्षों तक इसका प्रभाव रहा और तब फिर दरारोंकी दुर्गन्ध भयानक हो उठी।

भारत-भूमिकी उर्वरा शक्तिकी शतशत जय ! उसने एक साथ दो महापुरुषोंको जन्म दिया। इनमे पहला बुद्ध, दूसरा महावीर ! दोनोंने इस दुर्गन्धके विरुद्ध विद्रोहकी घोषणा की, पर दोनोंकी दिशा एक होकर भी शैली भिन्न – बुद्ध घोर क्रान्तिकारी, महावीर समन्वयवादी !

बुद्धने कहा, "हिंसा वर्जनीय है।"

कहा गया कि हिंसा तो यज्ञोंका एक आवश्यक अंग है।

बुद्धने कहा, "मैं यज्ञोंको नहीं मानता !"

कहा गया कि यज्ञोंका विधान तो वेदोंमें ।

बुद्धने कहा, ". . . . .नहीं मानता !"

कहा गया कि वेद तो ईश्वरकी वाणी हैं।

बुद्धने कहा, "मैं तुम्हारे ईश्वरको भी नहीं मानता !"

यह एक क्रान्तिकारीका दृष्टिकोण है, जिसका स्वरूप यह है कि तुम यहाँसे हटो, यहाँ अब मैं ही रहूँगा – उठो, भागो !

महावीर यहाँतक नहीं गये। उन्होंने शायद कृष्णकी विचार-दिशाको समझ लिया और अनेकान्तवादके रूपमें एक समन्वयकी धारा बहायी। उनकी कार्य-दिशाका स्वरूप यह है : "हाँ हाँ, जहाँ खड़े होकर तुम देख रहे हो, जीवनका वही रूप दिखाई देता है, जो तुम कह रहे हो, पर देखने-की एकमात्र जगह वही तो नहीं है जहाँ तुम खड़े हो। लो, आओ मेरे पास और यहाँसे देखो कि तुम जो वहाँसे देख रहे हो जीवनका वही सत्य नहीं है !"

दोनों महापुरुषोंमें मतभेद नहीं है, दोनोंके कार्योंने एक-दूसरेको बल ही दिया। हाँ, यह ठीक है कि बुद्धको बहुत सफलता मिली – क्रान्ति हमेशा तीव्रगामी होती है और सुधार मन्दगामी, पर यह भी तो सत्य है कि बुद्धका कार्य भारतसे उनके पीछे-पीछे ही इस तरह चला गया जैसे

हिटलर और मुसोलिनीका कार्य उनके पीछे-पीछे चला गया और महावीर-का कार्य उनके पीछे भी कार्य करता रहा जैसे कमालपाशाका कार्य उनके बाद भी !

संक्षेपमें बुद्ध और महावीर, हमारी समाज-व्यवस्थाके प्रथम विद्रोही और २६ जनवरी १९५० को जिस नयी समाज-व्यवस्थाकी वैधानिक घोषणा हुई उसके आदि प्रवर्तक। नवीन समाज-व्यवस्था; जिसके महान् शिल्पी हैं महात्मा गान्धी, सही अर्थोंमें राष्ट्रपिता, जो क्रान्तिकारी दृष्टि-कोणमें बुद्धके और कार्य-दिशामें महावीरके निकट हैं।

आजका जैन धर्म महावीरकी वसीयत है और जैन समाज इस वसीयतका मूढ़ संरक्षक – मूढ़; क्योंकि समाजकी जिन कुरूपताओंके विरुद्ध महावीरने युद्ध-घोषणा की थी, उनसे पूरी तरह घिरा हुआ। संक्षेपमें ये कुरूपताएँ हैं कट्टरता और विषमता ! दिगम्बर जैन-परिषद्की घोषणा इन दोनोंके विरुद्ध लड़नेकी है और नवीन समाज-व्यवस्थाके एक मामूली स्वयंसेवकके रूपमें यहीं परिषद्से मेरा रिश्ता है।

एक आकर्षण और भी – युगने महावीरकी वसीयतके मूढ़ संरक्षक इस समाजको आज एक तेज़ कसौटीपर रख दिया है और वह इस तरह कि भारतके नये विधानने जाति, लिंग, स्थिति और वर्णसे ऊपर उठ मनुष्यमात्रको समानता – समान सामाजिक अधिकारों – की घोषणा की है। महावीर स्वामीकी उन्मुक्त आत्मा इस घोषणाको अनुभव कर सन्तुष्ट हुई होगी और उसने सोचा होगा कि ओह, मेरी भावना ढाई हज़ार वर्षों बाद आज फलवती हुई। जैन समाज महावीरको भगवान् कहकर पूजता है। उसके लिए शोभा तो यह होती कि यह घोषणा उसके ही प्रयत्नोंके फलसे प्रस्तुत हो, पर यह नहीं तो यह तो होना ही चाहिए कि उसे इससे एक नये गौरवका अनुभव हो।

क्या यह हो रहा है ? जड़ क़लमको भी हिरहिराहट है, यह कहते

कि ना ! जैन समाजके प्रमुख मुनि चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य श्री पूज्य शान्ति-सागरजी महाराज दो वर्षोंसे अन्नका त्याग किये हुए हैं कि हरिजनोंको जैन मन्दिरोंके भीतर प्रवेशका अधिकार न मिले। जैन समाजमें उनके प्रति श्रद्धा है और उनके अन्न-त्यागसे पीड़ा भी। फलस्वरूप जगह-जगह हरिजन-मन्दिर-प्रवेश-विधिका विरोध हुआ है। जैन समाजके सर्वोत्तम सन्त पूज्य-प्रवर श्री गणेशप्रसादजी वर्णीने, गौरवकी बात है कि, मन्दिर-प्रवेश-विधिका समर्थन किया है और दूसरे अनेक विद्वानोंने भी, फिर भी विरोध अभीतक उग्र है और परिषद्को इसपर अपना मत देना था। परिषद्के मुज़फ़्फ़र-नगर अधिवेशनमें गत वर्ष इस सम्बन्धमें जो प्रस्ताव पास हुआ था, वह छायावादी है। उसमें कहा गया है कि सरकार इस सम्बन्धमे जो कार्यवाही करे, उसमें जैन समाजके नेताओंसे भी सलाह ले, क्योंकि जैन मन्दिरोंकी पूजाविधि अपने ढंगकी है।

मेरी जिज्ञासा थी कि परिषद्का प्रस्ताव इस वर्ष किस सीमा तक आगे जाता है; क्योंकि यह प्रस्ताव मेरी सम्मतिमें जैन समाजके जागृत मानसका मापदण्ड होगा ! इस दृष्टिसे जब मैं दिल्लीके परिषद्-अधिवेशनमें गया, तो मैं एक उत्सवमें ही नहीं गया, जहाँ मेरे पुराने विचार-बन्धु मुझे मिलेंगे, सामाजिक प्रगतिको एक अध्ययन-शालामें भी गया, जहाँ मैं देख सकूँ कि हम किधर-कितना बढ़ रहे हैं।

मण्डप शानदार था, बैठने-बैठानेकी व्यवस्था सुन्दर थी। स्वागताध्यक्ष और अध्यक्ष दोनोंके भाषण सधे हुए थे। उनमें अवलोकन खुला हुआ था, निर्देशन बचा-बचा – यानी वे सशक्त न थे, पर स्वस्थ थे। उपस्थिति अच्छी थी। माननीय श्री श्रीप्रकाशजीने अधिवेशनका उद्घाटन किया था और अपने भाषणमें व्यापार-वाणिज्यके साथ नैतिकताके समन्वयकी सुन्दर बात कही थी। भाषणमें सरसता थी, स्पष्टता थी, शक्ति न थी, जो मानसको हिला देती है। श्रीप्रकाशजी महान् विचारक पिताके साधु पुत्र हैं। वे उन पवित्र पुरुषोंमें हैं, जो कभी-कभी ही राजनीतिमें दिखाई देते

हैं। आजकल जिन कलाओंसे मनुष्य पद पाते हैं, वे उनसे सर्वथा शून्य होकर भी आज जो केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डलके सदस्य हैं, वह उनकी विश्व-सनीयताका ही फल है। परिषद्ने उन्हें उद्घाटक चुनकर अपनी मानसिक स्वस्थताका जो प्रमाण-पत्र दिया, उसके लिए वह बधाईकी पात्र है।

वहीं दिखाई दिये मध्य भारतके उद्योग-प्राप्ति मन्त्री माननीय श्री श्यामलालजी पाण्डवीय। आकृतिमें सीधे, तो प्रकृतिमें सादे। बातचीत हुई, तो जाना कि सरस भी, सहृदय भी। मैंने पत्रकारकी पैनी आँखोंसे उन्हें देखा – दूर-दूर भी कहीं राज्यके मन्त्री होनेका दर्प या दम्भ मुझे दिखाई न दिया। वे सबके बीचमें इस तरह थे, जैसे वे जो कुछ, जितने कुछ यहाँ हैं; उससे बाहर और कुछ नहीं। उनसे मिलना भले ही मुश्किल हो, पर मिलकर उन्हें पा लेना मुझे आसान लगा। सचाई यह है कि वे श्रेष्ठ मनुष्य हैं और उनसे मिलना मानवताके एक नम्र सेवकको उत्साह देता है।

ऋषभदास राँकाका नाम बहुत बार सुना था, पर सुननेमें जो बीज था, वह मिलनेमें वट-वृक्ष हो गया, जिसकी छायामें शीतलता और विश्राम दोनों मिलते हैं। जीवनमें सात्त्विकता, विचारोंमें स्पष्टता और कार्योंमें कर्मठता यह त्रिवेणी ही श्री राँका है। राँकाजीमें एक ऐसा बाँकपन है कि उनसे मिलकर मनुष्य अपनी यात्रा-कम्पनीके शेयर्सका डिविडेण्ड तुरन्त पा जाता है।

एक और आदमीका मुझपर असर पड़ा। वे बोलते कम थे, देखते ज़्यादा थे। मैंने अनुभव किया कि व्यवस्थाके हर कोनेपर उनकी आँख थी। ये स्वागत-मन्त्री श्री नन्हेदास थे। स्वागत-समितिकी व्यवस्था सुन्दर थी, सुसंगठित थी, पर यह कोई ख़ास बात न थी; क्योंकि स्वागताध्यक्ष श्री राजेन्द्रकुमार 'डायरेक्शन'में ही नहीं, 'ऐक्शन'में भी पटु हैं। वे काम करना भी जानते हैं, काम कराना भी!

पहले दिनका अधिवेशन बहुत सफल रहा !

दूसरे दिन विषय-निर्वाचनीमें जो प्रश्न लोगोंको तंग कर रहा था वह यह कि कुछ लोग जैन धर्मको स्वतन्त्र धर्म मानते हुए भी जैन समाज और हिन्दू समाजकी एकताका समर्थन करना चाहते थे, पर कुछ लोगोंको इससे यह भय था कि इस दशामें हिन्दू कोड बिल और हरिजन-मन्दिर-प्रवेश आदिके सुधारक क़ानून हमपर लागू होंगे। संक्षेपमें उनके भयका रूप यह था कि आगे चलकर जैनियोंका कोई अस्तित्व ही न रहेगा। श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीयने इस भयपर आक्रमण किया और लोग उनकी भाषण-कलाके प्रचण्ड प्रवाहमें बह गये, पर धीरे-धीरे भयने फिर सिर उठाया। श्री ऋषभदासजी राँकाके भाषणने दोनों समाजोंकी एकताके प्रश्न-पर ग़ज़बका प्रकाश डाला। उन्होंने कहा था कि बम्बईके हरिजन-मन्दिर-प्रवेश क़ानूनसे जैनियोंके मुक्त होनेका फल यह हुआ है कि उधर जैनी एक बहिष्कृत जाति हो चली है, जिससे जैनियोंके लिए सम्मानपूर्वक रहना दुर्भर हो गया है।

इस भाषणका प्रभाव पड़ा और एकताका प्रस्ताव नये रूपमें बन सका। हरिजनोंके मन्दिर-प्रवेशपर जो प्रस्ताव बना वह स्पष्ट था, निर्देशात्मक था, क्रान्तिकारी था।

इधर ये प्रस्ताव पास हो रहे थे, उधर दिगम्बर मुनि श्रद्धेय श्री नेमिसागरजीके तपोवनमें जैन समाजको इस 'महापाप'से बचानेकी तैयारियाँ हो रही थीं। दिन-भर वहाँ चर्चा रही, जोड़-तोड़ जमते रहे। शाम तक सूचना मिली कि वहाँ यह तय पाया है कि आज परिषद्का अधिवेशन न होने दिया जाये। परिषद्का अधिवेशन आरम्भ हुआ तो खचाखच उपस्थिति थी। मुझसे गोयलीयजीने कहा, "आज झमेलेकी पूरी तैयारी है।" मैंने भी दो-चारसे बात की, इधर-उधर सूँघा, तो ख़तरा दिखाई दिया।

मैंने सभापति श्री साहू श्रेयान्सप्रसादजीसे कहा, "हरिजन-प्रस्ताव

जिस रूपमें है, उसपर आज भयंकर झमेला होगा यह निश्चित है, इसलिए उस प्रस्तावको आज या अभी न लायें तो कैसा है ?

साहू श्री श्रेयान्सप्रसादजीने जो उत्तर दिया, वह हमारे राष्ट्रके सुधारकोंके लिए डायरीमें नहीं, कलेजेपर लिखने लायक़ है। अपनी शान्त मुद्रामें वे बोले, "प्रभाकरजी ! हम यह प्रस्ताव पास न करा सकें, तो फिर परिषद्के जीनेसे ही क्या लाभ है ?"

उत्तर सुनते ही मेरा मन आनन्दसे भर गया और साहूजीके सामने मेरा सिर झुक गया। लखनऊके परिषद्-अधिवेशनमे मैंने अनुभव किया था कि साहू शान्तिप्रसादजीके रोम-रोममे विशाल जैन संघका राष्ट्रीय स्वप्न छाया हुआ है और आज उनके बड़े भाईके मनमें छाया हुआ मैंने उसका स्वरूप देखा। मुझे लगा कि मैं इस समय कश्मीरकी किसी घाटीमें विचर रहा हूँ।

श्री परमेष्ठीदास जैनने प्रस्ताव पेश किया। प्रस्ताव पढ़कर उन्होंने जैन धर्मकी विशालतापर भाषण आरम्भ किया ही था कि आवाज़ें आने लगीं और कुछ ही पलोंमें ये आवाज़ें एक सम्मिलित कोलाहलमे बदल गयीं। भाषण देना इस दशामें किसीके लिए भी असम्भव था। अब एक नवयुवक स्टेजपर आये और बोलने लगे। कोलाहल नाटकीय ढंगसे शान्त हो गया। उन्होंने अपने लच्छेदार और जोशीले भाषणमें प्रस्तावका विरोध किया और समाजकी इच्छा यह बतायी कि यह प्रस्ताव ठीक नहीं है।

लोग शान्त हो गये, पर फिर हल्ला मचा कि प्रस्ताव वापस लो, परमेष्ठीदासको निकाल दो और जाने क्या-क्या ! इसके बाद तो लोग खड़े हो गये और भाषण-वेदीके चारों ओर कुछ 'ट्रेण्ड' मनुष्य आ जुटे। अब कोलाहल अपशब्दोंके सागरमें डूब गया। कुछ ही क्षणमें ये अपशब्द उग्र हो गये और ये लोग वेदीके ऊपर चढ़ आये !

सबके चेहरोंपर भयंकर क्रोध था, सबकी मुद्राओंमें हिंसा थी, सबकी वाणी क्रूर थी और सबके हृदय ही नहीं, हाथ भी मसमसा रहे थे। मैंने

सोचा, जाने आज क्या होनेवाला है !

सभापतिने सलाह कर प्रस्तावको स्थगित कर दिया। अब एक नया रूप आया और गरमी बेहद बढ़ गयी। 'प्रस्तावको स्थगित नहीं वापस लो !' यह उन लोगोंका नारा था और वे अब और भी ऊपर चढ़ आये। साहू श्रेयान्सप्रसाद अब इन लोगोंसे घिरे हुए थे। एक गाय यदि सैकड़ों भेड़ियोंके झुण्डमें घिर जाये, तो आप जानते हैं, कैसा दृश्य होता है ? यदि हाँ, तो वहाँ वही दृश्य था ! सचमुच एक अद्भुत दृश्य था कि एक तरफ़ सैकड़ों खूंख्वार चेहरे और दूसरी तरफ़ एक शान्त आकृति !

मैंने अपने-आपसे कहा, "अक़्लका कितना बड़ा बदहाजमा है कि ये खूंख्वार चेहरे भगवान् महावीरके धर्मकी रक्षाका दावा करते हैं और इस शान्त मनुष्यको उस धर्मका विरोधी बताते हैं। तभी मेरे मनमें एक भयंकर कल्पना जागी कि कौन कहता है गोडसे गान्धीको मारकर फाँसी चढ़ गया" – ये सब गोडसे ही तो हैं !

बहुतोंको मेरी कल्पना कड़वी लगेगी, पर जहाँ हम अपना मत विचारसे नहीं, ताक़तसे मनवानेकी कोशिश करते हैं, वहीं तो गोडसे होता है ! ये लोग थोड़ी देर प्रतीक्षा करके प्रस्तावके विरोधमें राय देते और उसे फ़ेल कर देते, यह सीधा मार्ग था, पर इन्हें मतपर नहीं, ताक़त-पर भरोसा था और यहीं ये सब गोडसे थे !

मीटिङ् स्थगित कर दी गयी। यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो जो कुछ होनेवाला था, वह सारे जैन समाजको चुल्लू-भर पानीमें डुबा देता ! मुझे सार्वजनिक जीवनमें काम करते वर्षों हो गये, पर मैंने ऐसा कुरूप दृश्य पहले कभी देखा था, यह मुझे याद नहीं पड़ता।

रातमें परिषद्के नेता मिले। मुझे ख़ुशी हुई कि वे स्थिर थे, दृढ़ थे। दूसरे दिन दिनमें दो बजे परिषद्का अधिवेशन हुआ। आज लाला तनसुखरायकी व्यवस्था थी। हर बल्ली और रस्सेपर स्वयंसेवक था।

तनसुखराय एक कार्यकर्त्ता हैं और सचमुच कार्यकर्त्ता बहुत बड़ी चीज़ होती है, यह आज स्पष्ट देखा।

प्रस्ताव पास हो गया और इस तरह परिषद्ने घोषणा की: प्रतिक्रियावादी कितने ही स्यापे लें, कितने ही पैर पीटें, युगकी प्रगति अमर है और निश्चित रूपसे वह अपना कार्य करेगी।

दिल्ली-यात्राकी स्मृतियाँ

"आपका देहली चलना निहायत ज़रूरी है पण्डितजी !"

देवबन्दके प्रतिष्ठित राष्ट्र-कर्मी मास्टर काशीरामजीका अनुरोध सुनते ही मैं दिल्ली चलनेको तैयार हो गया। वे देवबन्द तहसीलकी राजनैतिक कान्फ्रेन्सके लिए नेताओंको निमन्त्रण देने दिल्ली जा रहे थे। महात्माजीके शुभ-आगमन और असेम्बलीकी बैठकके कारण दिल्ली इस समय राष्ट्रका पवित्र तीर्थ हो रहा है; मैं इस तीर्थके अवगाहनसे क्यों वंचित रहूँ ?

यमुनाका पुल पार करते ही लाल क़िलेपर दृष्टि पड़ी। यह आज भी खड़ा-खड़ा चौराहेके सिपाहीकी तरह मुग़ल साम्राज्यके उस महान् वैभवकी ओर संकेत करता रहता है। कितना वैभवशाली था वह साम्राज्य और कितना शक्ति-सम्पन्न, पर विलासिता और जनताकी उपेक्षासे वह मिट्टीमें मिल गया और उसके उत्तराधिकारी, आज जाकर ख़्वाजा हसन निज़ामीसे पूछो, ठेले चला-चलाकर पेट पाल रहे है !

आगे बढ़कर स्टेशन आया। उतरे, बाहर आये। सामानके लिए एक क़ुली किया, पर तीन-चार क़ुली झगड़ पड़े। सभी अपना नम्बर बता रहे थे ! बात यहाँतक बढ़ी कि मध्यस्थ बनना पड़ा। मास्टरजीने कहा, "हमने यह क़ुली किया है, अगर इसका नम्बर नहीं है, तो तुम इसकी शिकायत कर देना, पर हमारा वक़्त क्यों ख़राब कर रहे हो भाई ! क़ुली उनसे भी झगड़नेको, यहाँतक कि हाथा-पाई करनेको तैयार हो गये।" मैंने इधर-उधर देखा, कोई सिपाही वहाँ नहीं था।

सामने साइनबोर्डपर नज़र गयी, जिसमें 'मुसाफरोंके वासते' न जाने क्या-क्या लिखा था। अँगरेज़ी ठीक और उर्दू सही, पर हिन्दी ही एक अनाथ भाषा है, जिसपर होनेवाले अत्याचारोंका प्रतिवाद शायद निषिद्ध है।

ख़ैर, सामान लेकर आगे चले। थोड़ी दूर जाकर देखा, एक वृक्षकी आड़में सिपाही महाशय अपने एक मित्रके कन्धेपर हाथ रख गप-शप कर रहे हैं। कर्त्तव्यपालनका यह कितना सुन्दर उदाहरण था। मैंने कहा, "मास्टरजी, ऐसे पब्लिक सर्वेण्ट भारतके अलावा और किस देशमे मिल सकते हैं?"

दूसरे दिन विविध नेताओंके दर्शन किये। केनिङ् स्ट्रीटकी सरकारी कोठियाँ आजकल 'काँग्रेस-हाउस' हो रही है। सेठ गोविन्ददासजीकी बाहर खड़ी मोटरपर तिरंगा झण्डा फहरा रहा था। २५ न० कोठीमे पालीवालजीके दर्शन किये। वे बाहरसे जितने ऊबड़-खाबड़ हैं, भीतरसे उतने ही सुन्दर। जितने रूखे है, उतने ही सरस। एक शब्दमें युक्तप्रान्तका यह सपूत सिपाही है।

सभी लोग असेम्बली-हाउस जानेकी तैयारी कर रहे थे। सभापतिके चुनावकी व्यस्तता सभीके चेहरोंपर थी, पर श्री प० गोविन्दवल्लभजी पन्त इस समय भी बेफ़िक्रीसे बैठे हजामत बना रहे थे, जैसे उन्हें कोई फ़िक्र ही नहीं।

असेम्बली पहुँचे, नेता लोग धीरे-धीरे आ रहे थे। आज नयी दिल्ली — वायसरायके घर — में खादीकी बहार देखने लायक़ थी। कई तिरंगे झण्डे, जिन्हें झुकानेमें गत वर्षोंमें भगीरथ-प्रयत्न किया गया था, मोटरोंपर फहरा रहे थे। ऊपर असेम्बली-हॉलपर यूनियन जैक फहरा रहा था, जो सम्भवतः इन छोटे-छोटे झण्डोंको चुनौती दे रहा था: "इन किरायेकी मोटरोंपर चढ़कर क्या इतरा रहे हो? यहाँ आओ, तो मैं समझूँ।" इन

झण्डोंने इस चुनौतीका जो उत्तर दिया, वह लिखनेकी नहीं भावुकोंके अनुभव करनेकी चीज़ है।

सभापतिके चुनावमें काँग्रेस हार गयी। सभी काँग्रेसी खिन्न थे, पर पन्तजीकी मुख-मुद्रापर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं था। वे वास्तवमें एक राजनैतिक नेता हैं और राजनीतिको वे खिलाड़ीकी आँखसे देखते हैं। प० मोतीलालजी नेहरूकी यादसे मेरी पलकें भींज गयीं। आह, आज वह महारथी होता, तो क्या पराजयकी ये घड़ियाँ देखनी पड़तीं?

हिन्दुस्तानमें सम्राट्के उस प्रतिनिधिको भी देखनेका अवसर मिला। लॉर्ड विलिंगडन बूढ़े है, पर ज़रीदार लाल कोटमें खूब फब रहे थे। चेहरे-पर बुढ़ापा था, पर शरीरमें जवानीकी चुस्ती। सुखमें कौन बूढ़ा हुआ है? मुझे ग्रामीण भारतीयके नाते उन्हें देखकर पुराने साँड्-अभिनेताओंकी याद हो आयी।

आजकल दिल्लीमें जापानी मालकी एक नुमाइश हो रही थी। हम लोग भी उसे देखने गये, कोई टिकिट नहीं था। विविध प्रकारका जापानी माल सजा हुआ था। चमक-दमक नम्बर एक और दाम सस्ता। चारों ओर विविध देशोंके झण्डे लटक रहे थे। उनमें एक झण्डा (जो सम्भवतः इटलीका था) भारतके झण्डेसे मिलता-जुलता था। मैंने वहाँके प्रदर्शक एक जापानीसे पूछा, "ये झण्डे विविध देशोंके हैं या जापानके ही विविध ग्रूपोंके?" हँसकर उसने कहा, "यस, देयर आर फ्लैग्स् ऑव आल दोज़ कण्ट्रीज़, विद विच वि हैव ऑवर ट्रेड, ऐक्सैप्ट दीज़ विच आर स्लैव कण्ट्रीज़।" अर्थात् यहाँ उन सब देशोंके झण्डे हैं, जिनसे हमारा व्यापार है और जो ग़ुलाम नहीं हैं।

इस जापानीकी हंसीमें कितनी भर्त्सना थी।

ग़ैरतसे मेरी आँखें नीचे झुक गयीं। भारतके मस्तकसे दासताका यह कलंक कब धुलेगा? हम कितने ही सजें, बनें और शृंगार करें, पर जब-

तक हमारे मुखसे दासताके कलंककी कालिमा नहीं धुलती, सब बेकार है और हमारा शृंगार हमारे उपहासका ही कारण है !

अँगरेज़ी सूट-बूटसे कोई भारतीय ईसाई कहीं अँगरेज़ हुआ है ? नुमाइशसे बाहर निकल 'अर्जुन' ख़रीदा। इस नुमाइशके समर्थनमें एक सम्पादकीय नोट था ! वाह रे, भगवान् व्यासके उत्तराधिकारियो !

'हिन्दुस्तान टाइम्स'का दफ़्तर भी देखा। भाई देवदासजी गान्धीसे थोड़ी-सी बातें हुई। उनकी सौम्य मूर्ति सदा याद रखनेकी चीज़ है। इस दफ़्तरमें जहाँ हम-जैसे हजारों छुटभैय्ये दिन-भरमें झाँक जाते है, कोई किसीकी बात पूछनेवाला नहीं था। शहरीपनके वातावरणमें यह शिकायत-की बात भी नहीं, पर दो सम्पादकोंके बीचमें रखी हुई बिजलीकी अँगीठी और कर्मचारियोंके सूट-बूट देखकर हमारे मास्टरजी बहुत भड़के, "हमारे नेता अगर अपने अधीन कर्मचारियोंमें ही सादी खादीका प्रचार नहीं कर सकते, तो उन्हें अपने पत्रके पाठकोंसे ऐसी आशा करनेका क्या अधिकार है ?" उनकी बातमें जो मार्मिकता थी, उससे इनकार नहीं किया जा सकता। फिर भी मैंने कहा, "नेता लोग आलोचनासे परे होते हैं, मास्टरजी !"

एक मित्रकी कृपासे सेक्रेटरियट देखनेको मिला। लिफ़्टपर पहली बार मैं यहीं चढ़ा। यह एक विशाल भवन है और इसकी छतपर-से नयी दिल्लीकी एक बहुत सुन्दर झाँकी दिखाई देती है। एक ओर असेम्बलीका वह विशाल गोल भवन और दूसरी ओर गुम्बददार वायसरायका निवास-स्थान – गवर्नमेण्ट हॉउस। चारों ओर फैले हुए वे सरकारी क्वार्टर और कनॉट प्लेसका वह शानदार बाज़ार, जहाँ पाँच आनेकी चीज़ हमारे राजा-रईस एक रुपयेमें ख़रीद कर कृतार्थ होते है।

कल्पनाकी आँखोंसे मैंने देखा – दूर खड़ा वह लाल क़िला उदासीन भावसे इस वैभवकी ओर देख रहा है। मेरे मनमें आया, किसी दिन लाल क़िला भी तो इसी उत्साहसे बनाया गया होगा।

मुग़ल साम्राज्य अपने इन सुदृढ़ और सुन्दर भवनोंके कारण आज भी

स्मरणीय है और अँगरेज़ी साम्राज्य अपने स्मृति-चिह्न निर्माण कर रहा है।

दिल्लीमें कितने ही साम्राज्य उगे, पनपे और विलीन हो गये। यह साम्राज्योंका प्रसूति-गृह भी है और श्मशान-मन्दिर भी! जीवन और मरण, आदि और अन्त एवं सृष्टि और प्रलयका दिल्लीमें कितना सुन्दर सम्मिलन हुआ है।

हम इतिहासको पढ़ते हैं, पर उससे कुछ सीखते नहीं। यही कारण है कि वह बार-बार अपनेको दोहराता है। राजपूतोंका अध्याय समाप्त हुआ और मुग़लोंका आरम्भ, मुग़लोंका अध्याय समाप्त हुआ और अँगरेज़ोंका आरम्भ! आज यही चल रहा है, पर कौन जानता है कि यह कितना लम्बा है। इतिहासके सभी अध्याय अपने वर्त्तमानमें अखण्ड, अटल और सर्वांगपूर्ण दीखते हैं, पर समयका प्रभाव इस अभिमानको मिथ्या प्रमाणित कर देता है। वर्त्तमान कितना मोहक है कि हमें भविष्यकी ओर देखने ही नहीं देता।

लाल क़िला खड़ा आज रो रहा है। न वह शान और न वह वैभव। आज उसके फ़व्वारे, जो किसी दिन राजकुमारों और राजकुमारियोंको स्नान करा चुके हैं – सावन और भादों – सुनसान हैं। किसी दिन उनमें सैकड़ों मोमबत्तियोंका आलोक अठखेलियाँ कर चुका है आज वहाँ अँधेरा पड़ा है और उसमें न जाने कितनी प्रेम-कथाएँ सोयी पड़ी हैं। वे ताल और वे झरने, सभीकी सजीवता आज कहाँ है? आज वह लाल क़िला सरकसके पालतू हाथीकी तरह उदासीन भावसे खड़ा-खड़ा अपने अतीतको याद कर रहा है और उसे देखकर, उसके अतीतको याद करके, मुँहसे निकल पड़ता है :

"रुदन हास्य में खेल रहा था, चिरविषाद अलमस्ती में!
कहीं छिपा था यह विनाश भी, उस वैभव की बस्ती में!!"

सेक्रेटरियटके साइन-बोर्डोंकी भी हिन्दी अशुद्ध थी। शिमला देखकर

यह आशा हुई थी कि दिल्लीके ऊँचे आफ़िसोंके बोर्डोंकी हालत ठीक होगी, पर यहाँ भी निराश होना पड़ा। मैं समझता हूँ अब वह समय आ गया है, जब राष्ट्रभाषाके इस अपमानकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

मैंने अपने मित्रसे कहा, "हम-जैसे खद्दरधारियोंको अपने दफ़्तरमें ले जाते तुम्हें डर नहीं लगता" वे हँस पड़े। उन्होंने दिखाया – वे खुद खादी पहन रहे थे और साथ ही वहाँ ऐसे कर्मचारियोंकी संख्या काफ़ी थी। मैंने अनुभव किया कि जो जितना बड़ा है, वह उतना ही उदार है। एक थानेदार, किसी परिचित काँग्रेसीको अपने आफ़िसके सामने देखकर ऐसा मुँह बनाता है कि जैसे हमने उसे पहले कभी देखा ही नहीं। जो जितना छोटा है, वह उतना ही दबा हुआ है।

दूसरे दिन शामको किंग्सवेमें महात्माजीकी प्रार्थनामें शरीक होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। सितारपर प्रार्थना हुई। प्रसन्नताकी बात है कि महात्माजी लेनिनकी तरह कलासे नहीं डरते और संगीतसे उन्हें पथभ्रष्ट होनेका ख़तरा नहीं। महात्माजीके निकट बैठकर एक प्रकारकी विशेष पवित्रताका अनुभव होता है। ऐसा कौन है, जो बापूकी हँसी देखकर निहाल न हो जाये।

प्रार्थनामें एक अँगरेज़ सज्जन भी आये थे। उन्होंने श्रीमहादेव देसाई-से प्रार्थना की, कि वे उन्हें महात्माजीसे मिला दें। एक-डेढ़ मिनिट वे महात्माजीसे मिले। बाहर आनेपर उनकी बुढ़िया गृहिणीको भी ईर्ष्या हुई और उन्होंने अपने पतिको अकेले यह सुख लूटनेपर बहुत डाँटा। इस-पर वे फिर देसाईजीके पास पहुँचे। फलस्वरूप उन्हे भी महात्माजीसे हाथ मिलानेका मौक़ा मिला। महात्माजीके सामने वे ऐसी खड़ी थीं जैसे बापूने उनकी पन्द्रह साल काले पानोकी सज़ा माफ़ कर दी हो!

माता कस्तूरी बाईके भी दर्शन हुए। इस बार वे बहुत बूढ़ी लगीं, पर उनके चेहरेपर जो ओज मैंने इस बार देखा, वह भी अपूर्व था। मीरा बहनका घुटा हुआ सिर दर्शकको चक्करमें डाल देता है। महात्माजीने

क्या कर दिया है इस बेचारीको ।

वास्तवमें महात्माजी प्राचीन भारतके ऋषियोंके नवीन संस्करण हैं और माता कस्तूरी बाई ऋषि-पत्नीका और इन दोनोंका समन्वय उसी पवित्र वातावरणकी पुष्टि करता है, जिसमें सिंह अपनी हिंसकताको त्याग कर दुम हिलाने लगता है । नवयुगके इन ऋषियोंको मेरा कोटि-कोटि प्रणाम ।

मित्रवर श्री होतीलालजीकी कृपासे पहाड़गंजकी पहाड़ियाँ देखनेका अवसर मिला । दिल्लीमें ऐसा सुन्दर प्रदेश घूमनेको मिलना मुझ-जैसे जंगली नागरिकके लिए एक ख़ुदाई बरकत है । देखकर तबीयत ख़ुश हो गयी, जैसे नया पकड़ा हुआ तोता सैय्यादकी भूलसे छूटकर अपने जंगली घोंसलेमें जा पहुँचा हो !

यहाँ मुग़ल साम्राज्यके समयकी एक चारदीवारी देखनेको मिली । पता चला कि यह भोली भटियारीकी सराय है । चारों ओर एक मज़बूत दीवार है और उसीके अन्दर दो-तीन कोठरियाँ हैं, साथ ही एक कुआँ भी ! सामने सुन्दर दरवाज़ा है ।

मैं सोचने लगा, कौन थी यह भोली भटियारी । भटियारी और भोली ! कौन जानता है उसके इस भोलेपनने ही उसके इस वैभवकी आधार-शिला रखी हो ?

किसी दिन देख लिया होगा मुग़ल सम्राट्ने उसे और हो गये होंगे प्रसन्न । बस, दूसरे दिन भटियारीकी झोंपड़ियाँ इस पक्की सरायके रूपमें बदल गयी होंगी । भीतर कुएँपर चारों ओर पक्का हाशिया है । कौन जानता है, इसपर प्रेमकी कितनी रंगरेलियाँ हो चुकी हैं ? चाँदनी रात, एक ज़रीकी मसनद, मुग़ल सम्राट् और पास ही एक भोली भटियारी; सुराकी उपासना, आँखों-ही-आँखोंमें बातें, कभी मीठी मुसकान और कभी अट्टहास । कितने सुन्दर दृश्य देख चुका है यह कूप । आह वे भारतके कैसे दिन थे ! उनका ध्यान आते ही कसक-भरे हृदयसे निकल पड़ता है :

"दिल्ली, देखे हैं तूने, वैभव के कितने सपने !"

एक तसवीरके दो पहलू

मैं एक जंगली नागरिक हूँ। जंगली नागरिक कि रहता हूँ नगरमें, खाता-पीता और जीता हूँ नगरमें, पर जीनेका रस मुझे मिलता है जंगलोंसे, खेतोंसे, उपवनोंसे, झीलोंसे, पर्वतोंसे। जंगलमें बैठकर, प्रकृतिके साथ मिलकर, बातें करना, हँसना, खेलना मेरे जीवनका एक खास शौक़ है।

मेरे मित्रोंमें और परिवारमें ऐसे भी लोग हैं, जो मुझे मेरे इस स्वभावके कारण घुमक्कड़ कहते हैं और ऐसे भी, जो बातचीतमें घुमाव-फिराव पसन्द नहीं करते और सीधे-सीधे मुझे आवारा कहते हैं। उन दोनोंकी तर्क-शैली संक्षेपमें यह है : "अरे भाई, बैठना-उठना चार साथी मित्रोंमें, यह क्या कि जंगलमे इकले जा पड़े!" उन्हें समझानेको कभी मैं कहता हूँ कि भई, जंगलमें जाकर भी जो अपनेको इकला महसूस करे, उससे अधिक अभागा कौन होगा, तो वे इस तरह हँसते हैं कि मैंने जैसे कोई एकदम पागलपनकी बात कह दी हो।

तो जंगलोंमें घूमना और यूँ कहूँ कि नित-नये जंगलोंमें घूमना मेरा स्वभाव है। उस दिन घूमने निकला, तो जा निकला बन्दरोंके बाग़में। यहाँ सैकड़ों बन्दर रहते हैं। वे क्या खाकर जी-पनप रहे हैं, मैं नहीं जानता, पर हाँ, मंगलके दिन नगरके दो-चार पुराने विचारोंके सज्जन यहाँ आते और इन्हें हनुमान्का रूप समझ, चने और गुड़ अवश्य खिला जाते हैं। पता नहीं उन्हें उससे लोक-परलोकमें क्या फल मिलता होगा, पर यह अवश्य है कि यहाँका वानर-दल न तो मनुष्योंसे द्वेष ही रखता है और न भय ही खाता है। पालतू पशुकी तरह प्रेमके मधुर पाशमें बँध कर हिल-सा गया है।

मैं एक वृक्षकी छायामें बैठ गया और संस्कृतका मधुर प्रेमाभिनय 'मालती-माधव' पढ़ने लगा। अद्‌भुत रचना है। मालतीकी आतुरता, माधवका उत्कट अनुराग, मकरन्दकी प्रेमपूर्ण चातुरी और मदयन्तिकाकी लाज-भरी प्रेम-मुद्राएँ पाठकको कोलाहलपूर्ण विश्वसे उठाकर प्रेमके उल्लास-मय विश्वमें पहुँचा देती हैं। पढ़ते-पढ़ते मैं झूम-झूम उठा, खो-खो गया और एक ही प्रकरणको बार-बार पढ़ने लगा। देह शिथिल हो गयी। आँखोंमें नशा-सा छा गया। यह दुनिया ही निराली है।

नशा ज़रा ढीला पड़ा, तो मेरा ध्यान वानर-दलकी ओर चला गया। वे अपने ही रागमें मस्त थे। एक वृक्षके नीचे कुछ वानर-शिशु आपसमें खेल रहे थे। एक बच्चा दूसरेकी पीठपर चढ़ने लगा, तो तीसरेने उसकी पूँछ पकड़कर खींच ली। जिसकी पूँछ खींची गयी थी, उसने उलटकर खींचनेवालेका कान काट लिया।

एक बच्चा पासके छोटे-से वृक्षसे नीचे उतरा और उसने इन खेलते बच्चोंमें-से एकका मुँह चूम लिया। उस छोटे शिशुने भी उसका मुँह चूमना चाहा, पर अपनी लघुताके कारण वह असफल रहा। दो-तीन बच्चोंने यह बात भाँप ली और उस बड़े बच्चेको बलपूर्वक पकड़, धरती-पर लिटा दिया। छोटे शिशुने यह देखा, तो उसने लौटकर तड़ातड़ उसे चार बार चूमा और पेटपर एक मीठी कटौती भी काटी। अब वह फुदक कर नीचेसे उठा और उनमे-से एकको गुदगुदाकर फिर पेड़पर चढ़ गया। प्यारमें हार भी जीत है, जीत भी हार है। चारों ओर शैशवका साम्राज्य-सा छा गया – चारों ओर सरसता बरस-बरस गयी।

एक-दूसरे वृक्षके नीचे एक वानर माता अपने दो शिशुओंको सुलाने-का प्रयत्न कर रही थी। हाँ, उसीके होंगे दोनों, पर वे अपनी बालसुलभ चंचलताके कारण इधर-उधर उछल-कूद मचानेकी चेष्टामें थे। माँ जब-

तक एकको चुमकारकर सुलानेका प्रयत्न करती, तबतक दूसरा उठ दौड़ता और जब वह दूसरेकी ओर दौड़ती तो पहला अपनी बाल-क्रीड़ा आरम्भ कर देता। जैसे-तैसे जबतक वह एकको हाथोंमें दबोच पाती, तबतक दूसरा उसकी कमरपर चढ़, उसे धराशायी करनेके विफल, पर अत्यन्त अध्यवसायपूर्ण प्रयत्नमें जुट पड़ता। माँ अत्यन्त व्यस्त थी और यों भी कि परेशान थी, पर उसके मुखमण्डलपर झुँझलाहटका कोई चिह्न न था।

एक तीसरे पेड़की शीतल छायामें एक वानर-दम्पति पृथक् ही अपने प्रेमका वितान तन रहे थे। वानरी पैर फैलाये बैठी थी और वानर उसकी एक जंघापर अपना मस्तक रखे, मीठी नींद ले रहा था। उसका एक हाथ वानरीके सम्पूर्ण कटि भागको अपनेमें लपेटे था, मानो किसी ऋषिका मूर्तिमान् आशीर्वाद किसी विपद्ग्रस्त अबलाकी रक्षा कर रहा हो। वानरीका दक्षिण हस्त किसी देवबालाके वरदहस्तकी भाँति वानरके ललाट-प्रदेशपर विलसित हो रहा था। वानरके मुख-मण्डलपर सात्त्विक शान्तिकी सरल आभा सुप्त सौन्दर्यकी प्रकाशमालाके साथ छिटक रही थी और वानरीकी चमकीली एवं मादक आँखोंमें प्रोद्भासित हो रहा था प्रेमका पुण्य प्रतिबिम्ब, मानो प्रशस्त प्रकाशपूरित चन्द्रकी विमल ज्योत्स्नाद्वारा प्रक्षालित फूलके दो सुन्दर कटोरोंमें निर्मल ओस-बिन्दु प्रोल्लसित हो रहे हों।

पुनीत दाम्पत्य महामायाकी कल्याणमयी विभूति है। पारस्परिक प्रेमसे यह अनुप्राणित होता है और विश्वासके बलसे पाता है यह सम्बल। आत्मनिवेदनका यह सजीव चित्र है और प्रकृति-पुरुषके सम्मिलनका पुण्य प्रतिबिम्ब।

चारों ओर प्रेमका यही साम्राज्य छाया हुआ था। पशु-उपाधिवाले

इस वानर जीवनसे मैं बहुत प्रभावित हुआ। सोचने लगा, इनमें परस्पर कितना प्रेम है। इनका जीवन कितना सरल है। न ईर्ष्या, न द्वेष, न दूसरोंको गिराकर स्वयं आगे बढ़नेकी पतित भावना। प्रकृति-पुनीत-गोदमें ये अलग ही अपनी दुनिया बसाये बैठे हैं। मैं कविके कल्पित प्रेमजगत्से कपियोंकी इस प्रत्यक्ष दुनियाका तुलनात्मक विवेचन करता हुआ अपने घर-की ओर चल पड़ा।

मैं पहले भी कई बार यहाँ आया था, पर आजके इस निरीक्षणसे वानर-दलके प्रति मेरे हृदयमें एक प्रकारकी आत्मीयता हो आयी। फलतः आज यहाँसे चलते समय मैंने हृदयमें एक मीठी कसकका अनुभव किया।

निजत्व क्या है ? इसका उद्गम कहाँ है ? इसमें इतना आकर्षण क्यों है ? जीवनके अन्वेषणीय रहस्यसे अनुप्राणित इन प्रश्नोंका समाधान दो हृदयोंकी अनुकूलता एवं विराट्के साथ सूक्ष्मकी एकत्व आकांक्षामें सन्निहित है, पर इसे हृदयकी मूक भाषा समझनेवालोंके अतिरिक्त कौन अनुभव करेगा ?

मैं अपनी विचार-वाटिकामें एकाकी विहार करता हुआ धीरे-धीरे घर-की ओर आ रहा था। अचानक कहीं पास ही वानर-दलकी क्रोध-भरी खों-खोंने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया। आँखें ऊपर उठा मैंने दृश्य देखा, उसने मुझे स्तब्ध कर दिया, मैं अवाक् रह गया।

एक जालीदार गाड़ीमें पचास-साठ वानर बन्द थे। सभीके मुख-मण्डल-पर क्रोधकी कठोरता ताण्डव कर रही थी। एक-दूसरेको फाड़ खानेको तैयार था, सभी घायल थे, सभी क्षुब्ध !

गाड़ीवानने बताया, "ये सुन्दरपुरसे पकड़कर हरद्वारके जंगलोंमें भेजे जा रहे हैं।"

मेरे कहनेपर गाड़ीवानने गाड़ी ठहरा दी। मैं और भी पास आ उन्हें ग़ौरसे देखने लगा।

देखा एक वानर-शिशु, जिसके सूखे मुखपर भूखकी दीनता बरस रही थी, दूध पीनेकी इच्छासे अपनी माताकी गोदकी ओर बढ़ा, पर समीप आते ही माताने उसे नोचना प्रारम्भ कर दिया और फिर तो उसका मस्तक अपने दोनों हाथोंमें दबाकर इस तरह चबाया कि खून बह निकला, बच्चा चिल्लाया, तड़पा, पर माँके हृदयपर उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ।

मातृत्वके साथ पैशाचिकताका ऐसा मर्मवेधक संयोग देखनेका मुझे कभी अवसर न मिला था। मेरी अन्तरात्मा काँप उठी। मैं इससे अधिक देखनेका साहस न कर सका।

यदि सागर ही शुष्क हो जाये, उसमें ही धूल उड़ने लगे, तो अन्यत्र जलप्राप्तिकी आशा कौन मूर्ख करेगा? मातृत्वमें भी यदि निर्दयता निवास करने लगे, तो जीवनमें किसी अन्य स्रोत-स्नेह या सरसता-वल्लरीके कुसुमित होनेकी सम्भावना कौन सहृदय करेगा?

गाड़ीवानको प्रस्थानका संकेत कर मैं चल पड़ा। दूर तक वानरोंके खाँव-खाँवका भीषण निनाद मुझे सुनाई देता रहा।

यह दृश्य मेरे पूर्व परिलक्षित दृश्यके बिलकुल प्रतिकूल था, यों कहिए ये दोनों एक ही तसवीरके दो पहलू थे।

मैं सोचने लगा, जो प्राणी उपवनमें प्रेमकी पुनीत प्रतिमा, सरसताकी सुन्दर निधि और स्नेहका सागर है, वही गाड़ीमें बैठकर दानवताका अवतार, क्रोधकी ज्वालामुखी एवं हृदय-हीनताकी मूर्त्ति कैसे हो गया?

हृदयमें एक हूक उठी, स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्यमें यही तो अन्तर है!!